ओ३म्

वैदिक ब्रह्मचर्य गीत

आचार्य अभयदेव विद्यालंकार
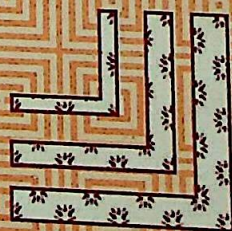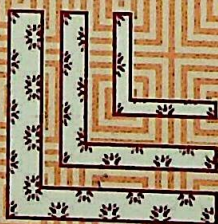
ओ३म्

स्वाध्याय ग्रन्थमाला का तृतीय पुष्प

वैदिक ब्रह्मचर्य गीत

[अथर्ववेद के ब्रह्मचर्यसूक्त ११-५ की एक व्याख्या]

लेखक

आचार्य अभयदेव विद्यालंकार

सम्पादक

आचार्य ब्र० नन्दकिशोर

अनीता आर्ष प्रकाशन

५००/२, हलवाई हट्टा, पानीपत (हरियाणा)
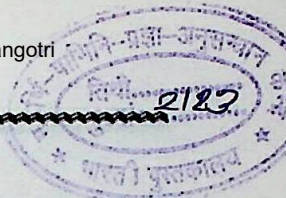
विषय-सूची

विषय		पृष्ठ
(लेखक की प्रस्तावना) ब्रह्मचर्य के दीवानों के प्रति		५
पहला मन्त्र	— ब्रह्मचारी इस ब्रह्माण्ड को धारण करता है	८
दूसरा मन्त्र	— सब देव ब्रह्मचारी के पीछे चलते हैं	१३
तीसरा मन्त्र	— दूसरा जन्म—दिव्य जन्म	१८
चौथा मन्त्र	— ब्रह्मचर्य के साधन	२३
पाँचवाँ मन्त्र	— ब्रह्मचारी उठता है!	२९
छठा मन्त्र	— ब्रह्मचारी आता है!	३३
सातवाँ मन्त्र	— असुरों का संहारक इन्द्र-ब्रह्मचारी	३७
आठवाँ मन्त्र	— आचार्य के घड़े हुए द्यावापृथिवी	४१
नवाँ मन्त्र	— ब्रह्मचारी की भिक्षा	४५
दसवाँ मन्त्र	— दो ख़ज़ाने	४८
ग्यारहवाँ मन्त्र	— दो अग्नियों के बीच में	५१
बारहवाँ मन्त्र	— ऊर्ध्वरेता	५५
तेरहवाँ मन्त्र	— ब्रह्मचारी का नानाविध समिधाधान	६३
चौदहवाँ मन्त्र	— आचार्य का स्वरूप	६८
पन्द्रहवाँ मन्त्र	— ब्रह्मचारी और आचार्य का सम्बन्ध	७३
सोलहवाँ मन्त्र	— ''आचार्य की महिमा''	७८
सत्रहवाँ मन्त्र	— क्षत्रिय और ब्राह्मण में ब्रह्मचर्य	८०
अठारहवाँ मन्त्र	— ब्रह्मचर्य से सच्चा भोक्तृत्व	८२
उन्नीसवाँ मन्त्र	— ब्रह्मचर्य से अमरता और दिव्यता	८५
बीसवाँ इक्कीसवाँ मन्त्र	— प्राकृतिक जगत् में ब्रह्मचर्य	८७
बाईसवाँ मन्त्र	— सब प्राणियों का रक्षक ब्रह्मचर्य	८९
तेईसवाँ मन्त्र	— 'देवों का सार और सर्वोच्च शक्ति'	९१
चौबीसवाँ मन्त्र	— ब्रह्मचर्य का सृजनकारी महातेज	९३
पच्चीसवाँ छब्बीसवाँ मन्त्र	— ब्रह्मचारी के लिए संसार की पुकार और उसका स्नातक होकर पृथ्वी पर आगमन	९५
परिशिष्ट—	(१) ऊर्ध्वरेता कैसे हों?	१००
	(२) 'देवयान' मार्ग	१०२
	(३) ब्राह्ममुहूर्त्त के वचन	१०४
ब्रह्मचर्यसूक्तम्		११५

ओ३म्

दो शब्द

आचार्य अभयदेव विद्यालंकार गुरुकुल काङ्गड़ी के स्नातक तथा वैदिक वाङ्मय के प्रख्यात् विद्वान् थे। स्वामी श्रद्धानन्द सरस्वती के प्रमुख शिष्यों में जाने जाते थे। इन्होंने गुरुकुल का स्नातक बनकर आर्यसमाज तथा स्वदेश की खूब सेवा की। आर्यसमाज के क्षेत्र में इन्होंने योगी तथा साधक के रूप में भी ख्याति प्राप्त की। "वैदिक ब्रह्मचर्य गीत" नामक पुस्तक लिखकर इन्होंने आर्यजगत् पर विशेष कृपा की है, जब तक इनकी अमर कृति "वैदिक-विनय" और "वैदिक ब्रह्मचर्य गीत" पुस्तक रहेगी, तब तक यशः प्रशस्ति आर्यजगत् में सदैव रहेगी। अनीता आर्ष प्रकाशन के प्रकाशक लाला आदित्यप्रकाश आर्य ने इस पुस्तक को छपवाकर ब्रह्मचारियों पर बड़ी कृपा की है। आशा है गुरुकुल के ब्रह्मचारी इस पुस्तक का स्वाध्याय करके अपने-आपको गौरवान्वित अनुभव करेंगे।

शुभेच्छु
आचार्य ब्र० नन्दकिशोर
दिनांक : १-२-९७

ब्रह्मचर्य के दीवानों के प्रति

जो मनुष्य कभी ब्रह्मचर्य के पीछे दीवाना नहीं हुआ है, उसने मेरी समझ में, ब्रह्मचर्य को पूर्ण रूप में अच्छी तरह देखा या समझा नहीं है। ब्रह्मचर्य ऐसी ही मनमोहिनी वस्तु है। पर फिर भी दुनिया में आज ब्रह्मचर्य के दीवाने बहुत थोड़े हैं। भोगवाद का शिकार यह वर्तमान जगत् यद्यपि कभी-न-कभी कुछ-न-कुछ संयम की, कुछ-न-कुछ ब्रह्मचर्य की ज़रूरत समझता है, उसके लिए कुछ यत्न भी करता है, परन्तु वह असल में भोग से इतना जर्जरित हो चुका है कि उसमें ब्रह्मचर्य की जाज्वल्यमान विभूति को, पूर्ण ब्रह्मचर्य के सूर्य को, एक आँख देख सकने की भी शक्ति नहीं रही है; तो यदि हम संसार के वर्तमान जीवों के अन्दर ब्रह्मचर्य के 'महाव्रत' के लिए तड़प न देखी जाए तो इसमें क्या आश्चर्य है। किन्तु जगत् में आज ब्रह्मचर्य के दीवाने थोड़े हों या बहुत, पर 'गुरुकुल' ने तो ब्रह्मचर्य का ही गीत गाना है, संसार को यही सन्देश सुनाना है; वह यही गा सकता है, यही सुना सकता है, कोई सुने या न सुने।

इसका कारण स्पष्ट है। संसार को आज ब्रह्मचर्य की ज़रूरत थी, इसीलिए प्रकृतिमाता ने इस युग में दयानन्द नाम से एक महान् ब्रह्मचारी को जन्म दिया। अतः उस दयानन्द के आर्य-समाज का यदि संसार को कोई संदेश हो सकता है, तो वह एक शब्द में ब्रह्मचर्य ही हो सकता है। इसीलिए महात्मा मुंशीराम ने, दयानन्द के एक सच्चे अनुयायी ने, ब्रह्मचर्य के पुनरुत्थान को ही एकमात्र लक्ष्य रखकर हिमालय की उपत्यका में, भागीरथी के तट पर अपनी तपस्या से गुरुकुल की नींव रक्खी। तो प्रिय पाठको! यह गुरुकुल ब्रह्मचर्य के सिवाय और किस वस्तु की भेंट आपके सम्मुख रख सकता है?

जब मैं गुरुकुल में बालक था तो अपनी श्रेणी के कुछ हम सहाध्यायी आपस में सोचा करते थे कि हम ऋषि दयानन्द की तरह ब्रह्मचारी बनेंगे। यह गुरुकुलीय वायुमंडल का प्रभाव था; पर ब्रह्मचर्य का क्या अर्थ है, तब हम यह न समझते थे। ब्रह्मचर्य कितना कठिन है, यह भी नहीं समझते थे। ज्यों-ज्यों बड़े होते गये, त्यों-त्यों ब्रह्मचर्य की महिमा के साथ-साथ उसकी कठिनता को भी समझते गये। परन्तु महाविद्यालय की ऊँची श्रेणी में पहुँचकर जब मैंने वेद का यह ब्रह्मचर्य-सूक्त पढ़ा और मनन किया तो मेरे ब्रह्मचर्य-सम्बन्धी विचारों में सबसे अधिक क्रान्ति आयी। जिस उदात्त और व्यापक ब्रह्मचर्य का वर्णन मैंने इसमें पाया, इससे मेरी दृष्टि खुल गयी। ब्रह्मचर्य के लक्ष्य को सामने रखकर चलने को एक साफ़ रास्ता मुझे मिल गया। इस सूक्त के अध्ययन से जो सबसे बड़ा प्रभाव मुझपर पड़ा, वह यह था कि दुनिया में मैं जो यह सुनता रहता था कि सर्वथा अखण्ड ब्रह्मचर्य असम्भव है, वह मेरा भ्रम हट गया। मैं तब से न केवल यह देखने लगा कि पूर्ण ब्रह्मचर्य सम्भव है, किन्तु यह भी अनुभव करने लगा कि ब्रह्मचर्य ही स्वाभाविक है, प्राकृतिक है। हम अपनी उच्च प्रकृति से देखें तो यही प्राकृतिक है। मैं यहाँ तक कहने को उद्यत हूँ कि जैसें साधारण लोग आँख के झपकने को स्वाभाविक समझते हैं, परन्तु आश्चर्य आदि की अवस्था के दृष्टान्त से जान सकते हैं कि एक ऐसी अवस्था भी आती है जबकि एकतत्व के देख लेने से स्वभावत: निमेषोन्मुख बन्द हो जाता है, इसकी आवश्यकता ही नहीं रहती, मनुष्य तब 'अनिमेष' अथवा 'देव' हो जाता है; इसी तरह अपने उच्च स्वरूप को देख लेने पर, पा लेने पर, निर्विकार अवस्था ही स्वाभाविक हो जाती है, विकार का कुछ काम ही नहीं रहता। अस्तु! यहाँ कहने का तात्पर्य इतना ही है कि अथर्ववेद के इस ब्रह्मचर्य सूक्त ने मुझे प्रथम अध्ययन में ही मोहित-सा कर लिया और तब से इस सूक्त को फिर-फिर पढ़ने की इच्छा होती रही और यह इच्छा अभी तृप्त नहीं हो पायी है। इसलिए पाठकों के साथ इसे ही एक बार फिर पढ़ने लगा हूँ।

पाठक यह न कहें कि इस सूक्त पर पहले ही कई उत्तम-उत्तम व्याख्याएँ वे पढ़ चुके हैं। यदि पढ़ चुके हैं तो क्या हुआ, एक यह भी सही। आज न जाने छापेखानों में काले किये जानेवाले कागजों में कितना बड़ा भाग ब्रह्मचर्य-घातक पतनकारी साहित्य से भरा होता है, तो गुरुकुल कांगड़ी से प्रकाशित होनेवाली यह पुस्तक ब्रह्मचर्य की चर्चा करे, पुनः-पुनः चर्चा करे तो कौन-सा बिगाड़ हो जाएगा, यदि कुछ लाभ न होगा और यह ब्रह्मचर्य-चर्चा मेरी समझ में कोई नीरस भी नहीं होगी। जब लेखक को उसमें रस आता है, इसीलिये वह चर्चा करता है, तो कोई और भी ऐसे साथी मिलेंगे जिन्हें इसमें रस आयेगा। मैं तो स्वीकार किये लेता हूँ कि मैं ब्रह्मचर्य के पीछे दीवाना हूँ, पागल हूँ पर मैं इसीलिये दीवाना हूँ क्योंकि ब्रह्मचर्य का चमकता हुआ सूर्य मुझे अत्यन्त प्यारा और आकर्षक लगता है, और मैं उससे अपने को बहुत दूर पाता हूँ जब मैं उसके नज़दीक पहुँच जाऊँगा तब मैं शायद ब्रह्मचर्य का दीवाना न रहकर ब्रह्मचर्य का भक्त या उपासक बन जाऊँगा। इसीलिए मुझ द्वारा की गई इस ब्रह्मचर्य-चर्चा में वे ही रस ले सकेंगे जो कि मुझ-जैसे ब्रह्मचर्य-जीवन के पिपासु हैं। अतः स्पष्ट है कि आगे आनेवाले ब्रह्मचर्य-सूक्त के मन्त्रों के आधार पर लिखे गये यह वचन उन्हीं भाई-बहनों के प्रति हैं जो कि ब्रह्मचर्य के दीवाने हैं, जो कि अखण्ड ब्रह्मचर्य में श्रद्धा रखते हैं, और जो पूर्ण ब्रह्मचर्य में ही अपने आत्मा का चरम विकास अनुभव करते हैं।

आपका बन्धु

अभय

श्री अरविन्द निकेतन, नई दिल्ली

१५ फरवरी, १९४४

[१]

ब्रह्मचारी इस ब्रह्माण्ड को धारण करता है

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मचारी ॥ छन्दः—पुरोऽतिजागता विराड्गर्भा त्रिष्टुप् ॥

ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे।
तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति॥
स दाधार पृथिवीं दिवं च।
स आचार्यं तपसा पिपर्ति॥

—अथर्व० ११।५।१

मन्त्रार्थ—ब्रह्मचारी=ब्रह्मचारी **इष्णन्**=[ब्रह्म को] चाहता हुआ, बार-बार खोजता हुआ **उभे रोदसी**=दोनों लोकों में, द्यावापृथिवी में **चरति**=विचरता है, अनुकूल आचरण करता है, ब्रह्मचर्य करता है। **तस्मिन्**=उसमें **देवाः**=सब देवता **संमनसः भवन्ति**=अनुकूल होकर रहते हैं। **सः**=वह **पृथिवीं दिवं च**=पृथिवी और द्यौ को **दाधार**=धारण करता है। **सः**=वह **तपसा**=तपस्या द्वारा **आचार्य**=आचार्य को **पिपर्त्ति**=तृप्त करता है।

क्या आपके मन में कभी ऐसी महत्वाकांक्षा पैदा होती है कि इस सब ब्रह्माण्ड को मैं धारण करूँ, इस सब जगत् को मैं अपने काबू करूँ? यदि होती है तो सुन लीजिए कि इसका उपाय, इसका एकमात्र साधन है ब्रह्मचर्य, ब्रह्मचर्य। पर हममें ऐसी महत्वाकांक्षा ही कहाँ होती है? हम तो इस भोगमयी दुनिया के ऐसे कीड़े बन चुके हैं कि हमारे दुर्बल मनों में ऐसी महत्वाकांक्षा करने की हिम्मत ही नहीं होती है, हम अपनी क्षुद्रता में पड़े दिन काट रहे हैं। इसलिए हम तो हंस देते हैं या गपोड़े समझ कर नाक चढ़ा लेते हैं। जब वेद में यह लिखा हुआ सुनते हैं कि ब्रह्मचारी इस पृथिवीलोक और द्युलोक को धारण किये हुए हैं, इस जमीन और आसमान को उठाये हुए हैं—

स दाधार पृथिवीं दिवं च।

'उस (ब्रह्मचारी) ने पृथिवी और द्यौ को धारा हुआ है' वेद के इस उदात्त और गम्भीर वाक्य से हम जीवन और रस ग्रहण करें। इसकी जगह हम इसे गप्प व अत्युक्ति समझ कर अलग रख देते हैं और वेद से मिल सकनेवाले महान लाभ से वंचित रह जाते हैं। इसमें वेद का क्या दोष? हमने कभी अपने हाथ और पैर को भी काबू नहीं किया, अपने स्थूल शरीर के अन्य अङ्गों—अवयवों को कभी वश में रखने या सम्भालने का आनन्द नहीं प्राप्त किया, तो हम सम्पूर्ण द्यावापृथिवी को सम्भालने की कल्पना भी कैसे कर सकते हैं? जो हो, इसमें कोई सन्देह नहीं है कि जो ब्रह्मचारी है उसने इस द्यौ और पृथिवी को धारा हुआ है। यदि इसकी सचाई देखना चाहो तो ब्रह्मचारी बन कर देख लो। यदि इतना नहीं कर सकते तो प्रारम्भ में इसकी सचाई बुद्धि से ही समझ लेने का यत्न करो, इसे बुद्धि से समझ लेने की सब सामग्री भी इस मन्त्र में विद्यमान है।

द्यौ और पृथिवी के बीच में तीसरा (अन्तरिक्ष) लोक भी समाया हुआ है। अत: यूँ कहना चाहिए कि ब्रह्मचारी ने तीनों लोकों को, इस त्रिलोकी को, धारण किया हुआ है जैसे कि हम वस्त्र धारण करते हैं, मानो द्यौ और पृथिवी को ओढ़ने और बिछौने की तरह ओढ़ा और बिछाया हुआ है। पर यह दृष्टान्त भी कुछ न्यून रहता है, पूरे आशय को नहीं प्रकट करता। यहाँ धारण करना ऐसा है जैसा कि मैंने 'शरीर धारण किया हुआ है' इस वाक्य में धारण करने से मतलब लिया जाता है। जो पूर्ण ब्रह्मचारी है उसने—और उसी ने ही—वास्तव में शरीर को, देह को, धारण किया होता है। हम लोगों ने तो शरीर को नहीं धारा होता है बल्कि शरीर में हमें धारा हुआ होता है। अतएव शरीर के मरने से हम मरते हैं, शरीर की वासनाओं से संचालित हुए हम चलते हैं, इस स्थूल संसार में (स्थूल शरीर आदि के द्वारा) जकड़े हुए, बँधे हुए कठ-पुतली की तरह बेबस नचाये हुए, प्रतिक्षण हिल-जुल रहे हैं। हमें शरीर ने सचमुच बाँधा हुआ है, हमने शरीर को जरा भी थामा हुआ या धारा हुआ नहीं है। यदि यह बात हम देख लें तो हमें समझ

आ जाएगा कि हममें और उस ब्रह्मचारी में कितना भेद है जिसने कि शरीर को सचमुच धारण किया हुआ है, काबू किया हुआ है।

अच्छा, यह हुआ कि ब्रह्मचारी ने अपने शरीर को वस्तुतः धारा हुआ होता है। तो बस आगे इतना ही और कहना है कि चूँकि उसने अपने अन्दर के त्रिलोकी को धारण किया होता है इसीलिए उसने बाहर के त्रिलोकी को, सारी दुनिया को भी, धारा हुआ होता है। पिण्ड और ब्रह्माण्ड का ऐसा ही अविच्छेद्य सम्बन्ध है। 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' यह वैदिक ज्ञान का एक आधारभूत सिद्धान्त है। स्वामी रामतीर्थ ने सच कहा है कि यदि तुम दुनिया को हिलाना चाहते हो तो इस दुनिया को तुम ऐसी जगह से पकड़ो जो तुम्हारे सबसे अधिक नजदीक हो अर्थात् अपने आपको पकड़ो। वस्तुतः इस त्रिलोकी को धारण करने का रहस्य इसी में है कि हम अपने आपको धारण करें, अपने आपको पूरी तरह वश करें और इसी का नाम ब्रह्मचर्य है।

ब्रह्मचारी अपने अन्दर के त्रिलोकी को (द्यौ, पृथिवी और अन्तरिक्ष को) धारण करता है, इसलिए बाहर का सब त्रिलोकी अपने आप धारण हो जाता है। वह अपने स्थूल शरीर को (पृथिवी को), अपने सूक्ष्म-प्राण, मन और हृदय को (अन्तरिक्ष को) और अपनी बुद्धि, मस्तिष्क को (द्युलोक को) पूरी तरह धारण कर लेता है इसलिए सब विशाल स्थूल संसार (पृथिवीलोक), सब सूक्ष्म संसार (अन्तरिक्ष) और प्रकाशमान ज्ञानमय संसार (द्युलोक) को भी वह धारण किये होता है। उसे इस बाहर के संसार को उठाने में कुछ भी जुदा यत्न नहीं करना पड़ता। उसे सब यत्न तो अपने शरीर, मन और बुद्धि (आत्मा) को काबू रखने में करना पड़ता है, फिर बाहर का सब तो स्वयमेव उठ जाता है। जैसे तलवार को पकड़ने के लिए सम्पूर्ण तलवार से अपने हाथ का स्पर्श करके उसे पकड़ने की ज़रूरत नहीं होती, उसकी मूठ को अच्छी तरह पकड़ लेने से सारी तलवार पकड़ी जाती है उसी तरह अपने आपको अन्दर से पकड़ लेने से बाहर का सब महान् संसार पकड़ा जाता है।

दूसरे शब्दों में कहें, तो ब्रह्मचारी अपने अन्दर के सब देवों को जगा लेता है, उनसे एकता स्थापित कर लेता है, अतः बाहर

के सब देव भी उसके अनुकूल हो जाते हैं। इसी बात को इस मन्त्र में, ब्रह्मचारी त्रिलोकी को कैसे धारण कर लेता है, इसका साधन बताते हुए यूँ कहा है—

तस्मि॑न् दे॒वाः संम॑नसो भवन्ति

ब्रह्मचारी में सब देव 'समानमनस्' हो जाते हैं, अनुकूल हो जाते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि जगत को धारण करनेवाले सब देवों के सहारे से ही ब्रह्मचारी द्यावापृथिवी को धारण कर लेता है। उसे इसके लिए सिवाय अन्दर के देवों को अपनाने के और कुछ नहीं करना होता। यह अन्दर की तपस्या ही उसकी ब्रह्मचर्य की कठोर तपस्या है। इस जगत् को जिन्होंने उठा रक्खा है वे आखिरकार देव हैं, परमेश्वर की दिव्य शक्तियाँ हैं। चूँकि इन दिव्य शक्तियों के मन और ब्रह्मचारी के मन में कोई भिन्नता नहीं रहती, ब्रह्मचारी की इस आन्तर तपस्या के कारण एकता स्थापित हो जाती है, अतएव ये देव ही ब्रह्मचारी के लिए, ब्रह्मचारी की अनुकूलता में जगत् को उठाये रहते हैं और यह बनता है कि ब्रह्मचारी ने जगत् को उठा रक्खा है।

पर ये सब देव ब्रह्मचारी के नौकर क्यों बन जाते हैं? सब दिव्य शक्तियाँ ब्रह्मचारी के अनुकूल क्यों हो जाती हैं? इसकी तह में जाने के लिए इस मन्त्र का प्रथम पाद पढ़िये और बार-बार पढ़िये—

ब्र॒ह्म॒चा॒रीष्णंश्च॑रति॒ रोद॑सी उ॒भे

'ब्रह्मचारी (ब्रह्म को) बार-बार चाहता हुआ, खोजता हुआ दोनों लोकों में विचरता है।'

इन्हीं महत्वशाली वचनों से इस ब्रह्मचर्यसूक्त का प्रारम्भ होता है। इन्हीं शब्दों में वेद ने 'ब्रह्मचारी' इस शब्द का अर्थ भी स्वयमेव बता दिया है।

चूँकि ब्रह्मचारी अपने ब्रह्म की सतत खोज करता हुआ सब संसार में, द्यावापृथिवी में, इस जहान में और उस जहान में, स्थूल में और सूक्ष्म में, सब जगह विचरता है, मारा-मारा फिरता है, उसे बिना प्राप्त किए कहीं चैन नहीं पाता, इसलिए वह उसके देवों की अनुकूलता पा लेता है। मतलब यह कि ब्रह्म की तलाश में निकलने

वाले को, ब्रह्मचारी को उसके (ब्रह्म के) देवता मिल ही जाते हैं, प्रारम्भ में उनसे तो एकता स्थापित हो ही जाती है।

यहाँ यह भी बता दिया कि ब्रह्मचारी वह है जो कि 'ब्रह्म' के लिए 'चरता है'। '(ब्रह्म) इष्णन् चरति' इति ब्रह्मचारी। ब्रह्मचारी वह है जो अपने ब्रह्म के लिए आकाश और पाताल खोजता है, बार-बार सब जगह खोजता फिरता है। उस खोज में ये स्थूल और सूक्ष्म दोनों संसार जिसके लिए एकसमान विहरण-स्थान हो जाते हैं।

यहाँ के 'ब्रह्म' शब्द से भी घबराने की ज़रूरत नहीं। 'ब्रह्म' का अर्थ बेशक परमेश्वर है, भगवान् है। इसे चाहे सत्य कहो, ज्ञान कहो, वेद कहो, बृहत् संसार कहो। कोई भी 'बृहत् प्रासव्य वस्तु' ब्रह्म है। तो ब्रह्म का सामान्य अर्थ हुआ 'बृहत् (महान्) लक्ष्य' 'बृहत् (महान्) आदर्श'। कोई न कोई बृहत् आदर्श ही मनुष्य को ब्रह्मचारी बनाता है। किसी ब्रह्म के लिए ही मनुष्य आत्मसंयम करता है, ब्रह्मचारी बनता है। ब्रह्मचारी होने का मतलब यह है कि वह व्रत लेता है, कि वह अपने ब्रह्म का केवल ब्रह्म का ही, अनुसरण करेगा। यह उसकी व्रतपालन की ही घोर तपस्या है जिसके कारण उसके अन्दर के देव जाग उठते हैं और उनके अनुसार बाहर के जगद्व्यापी देव उसकी अनुकूलता में खड़े हो जाते हैं और इस प्रकार यह सब ब्रह्माण्ड उसके लिए हस्तगत हो जाता है। उसकी यह तपस्या ही उसका सर्वस्व होता है।

इस तपस्या के द्वारा जहाँ वह इस ब्रह्माण्ड को धारण करने वाला हो जाता है, वहाँ इसी तपस्या से वह अपने आचार्य को भी तृप्त करता है, पालित और पूरित करता है। आचार्य अपने ब्रह्मचारी से यही चाहता है कि वह जगत् को धारण करने वाली एक दिव्य शक्ति बन जाए। ब्रह्मचारी इसी उद्देश्य से आचार्याधीन होकर ब्रह्मचर्य करता है। अतः जब कभी ब्रह्मचारी अपने इस महान् ध्येय को पूरा कर लेता है तभी वह वास्तव में अपने आचार्य को तृप्त करता है। आचार्य तभी अपने को कृतार्थ मान सकता है। अतः यह तपस्या ही ब्रह्मचारी का सर्वस्व होता है—

स आ॒चा॒र्यं॑ तप॑सा पिपर्ति

[२]

सब देव ब्रह्मचारी के पीछे चलते हैं

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मचारी ॥ छन्दः—पञ्चपदा बृहतीगर्भा विराट् शक्वरी ॥

**ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः पृथग्देवा अनुसंयन्ति सर्वे।
गन्धर्वा एनमन्वायन्त्रयस्त्रिंशत् त्रिशताः षट्सहस्राः
सर्वान्त्स देवांस्तपसा पिपर्त्ति॥** —अथर्व० ११।५।२

मन्त्रार्थ—पितरो देवजनाः=रक्षा करने वाले 'पितर' देवजन **पृथक् सर्वेदेवाः**=पृथक् सब 'देव' लोग **ब्रह्मचारिणं अनुसंयन्ति**=ब्रह्मचारी के पीछे चलते हैं। **गन्धर्वाः एवं अन्वायन्**=गौ [पृथिवी, धन, वाणी] को धारण करने वाले देव इसके पीछे चलते हैं। **त्रयस्त्रिंशत् त्रिशताः षट्सहस्राः**=तीन, तीस, तीन सौ, छः हज़ार ये देव हैं **सर्वान् स देवान् तपसा पिपर्त्ति**=इन सब देवों को ब्रह्मचारी अपने तप से संतृप्त करता है।

ब्रह्मचारी जगत् को धारण करता है, यह बतलाते हुए प्रथम मन्त्र में इतना तो कहा ही है कि सब देवता ब्रह्मचारी के अनुकूल हो जाते हैं, अर्थात् देवता की अनुकूलता के द्वारा ही वह ब्रह्मचारी द्यावापृथिवी को धारण करता है। पर इस मन्त्र में तो यही बात मुख्यतया और स्पष्टतया कही गई है कि सब देवता किस प्रकार ब्रह्मचारी के पीछे चलते हैं। ऐसा क्यों न हो? जो मनुष्य 'ब्रह्म' के लिए तपश्चर्या करने लगता है—चाहे कितने कष्ट आवें उन्हें सहर्ष झेलता हुआ भी ब्रह्म का, केवल ब्रह्म का अनुसरण करता है—तो उसका अनुसरण सब देव क्यों न करेंगे? जो महाराजा का मेहमान हो गया है, शरणागत हुआ है, उसके लिए महाराजा के सब नौकर-चाकर उसके नौकर-चाकर क्यों न बन जाएँगे? हम भोगी लोग विषयों की तरफ दौड़ते हुए कितना चाहते रहते हैं कि

हमारे इस प्रयोजन के लिए संसार की सब अवस्थाएँ अनुकूल हो जाएँ (जिसका अर्थ यह होता है कि सब देवता, दिव्य शक्तियाँ अनुकूल हो जाएँ) पर वे कभी नहीं होतीं। हम कभी भी निर्विघ्न रूप से भोग नहीं प्राप्त कर सकते। एक तरफ कुछ सुधारते हैं तो दूसरी कई तरफ बिगाड़ हो जाता है। देव हमें चैन नहीं लेने देते। इस प्रकार हम अशान्ति में ही जीवन बिता देते हैं। पर दूसरी तरफ जिसमें उस ब्रह्म को (उस महान् देव व ज्ञानरूप व सत्यस्वरूप को) आप लेने की सच्ची लगन लग गई है, उसके लिए ये देव अपने आप रास्ता साफ कर देते हैं, सहायक हो जाते हैं, हाथ बाँध कर उनके अनुचर हो जाते हैं। ब्रह्मचर्य का यह भारी प्रताप है।

मैं फिर दोहराता हूँ कि जिसने उस परम देव की तरफ मुँह उठा लिया है, उस 'ब्रह्म' की चर्या का व्रत ले लिया है, उसकी सहायता के लिए उसकी दिव्य शक्तियाँ—उसके देव—क्यों नहीं उठ खड़े होंगे? मनुष्य जितना-जितना ब्रह्मचारी होता जाता है, जितना-जितना ब्रह्म के नजदीक होता जाता है, उतना-उतना ही ये देवता अधिक मात्रा में उसके साथ आ-आकर जुड़ते जाते हैं, उतने-उतने ही ये देव उसके अनुचर बनते जाते हैं, और अन्त में उसे उसके लिए अभीष्ट परमदेव से मिला देते हैं।

तो ये देवता कौन हैं, कहाँ हैं, कितने हैं? वेद बेशक कहता है कि 'पितर देवजन' ब्रह्मचारी के पीछे चलते हैं, सब देव जुदा-जुदा ब्रह्मचारी के अनुयायी होते हैं, गन्धर्व इसका अनुसरण करते हैं, ये तीन, तीस, तीन सौ, छः हज़ार देव हैं जिन्हें ब्रह्मचारी अपनी तपस्या से सन्तुष्ट करता है। पर ये पितर और गन्धर्व आदि देव कहाँ हैं?

ये हमारे अन्दर ही हैं। इन्हें पहले अपने अन्दर ही कुछ अनुभव करो। मुख्य देव तीन हैं, उन्हीं की विभूतियाँ ३० या ३३ हैं, फिर ३३३ हैं, और फिर ६ हज़ार ३ सौ ३३ हैं, और फिर अनगिनत हैं। इसकी व्याख्या बृहदारण्यक-उपनिषद् (अध्याय ३, ब्राह्मण ९) में याज्ञवल्क्य ने विदग्ध शाकल्य के प्रश्न का उत्तर देते हुए बड़ी अच्छी तरह की है। पर इस मन्त्र के स्पष्टीकरण के लिए मैं

इस बात को दूसरी तरह कहना चाहता हूँ।

हमारे अन्दर प्राणवहा नाड़ियाँ मुख्यतया तीन हैं—इडा (चन्द्र), पिंगला (सूर्य) और सुषुम्ना (अग्नि)। इनमें से प्रत्येक के दस-दसं विभाग बताये गये हैं, जिससे वे ३० या ३३ बनती हैं, इनके शत-शत विभाग किये जाएँ तो ३३३ हो जाती हैं। प्रश्नोपनिषद् (३-६) में कहा है—'**अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडी-सहस्राणि भवन्ति, आसु व्यानश्चरति।**' अर्थात् 'हृदय में सौ नाड़ियाँ हैं, उनमें से प्रत्येक की सौ-सौ शाखा हैं, फिर उनकी प्रत्येक की ७२ हज़ार उपशाखाएँ हैं, उन सबमें व्यानवायु चलता है।' तात्पर्य यह है कि तीन से बढ़कर ६३३३ या अनगिनत नाड़ियाँ रूपी देवता हैं जिनको ब्रह्मचारी प्राणक्रिया द्वारा संतृप्त करता है, जागृत करता है और ये प्राणनाड़ियाँ ब्रह्मचारी के अनुकूल चलती हैं। इन्हें तीन विभागों में इस तरह विभक्त किया गया है कि ये अग्नि (सुषुम्ना) नाड़ियाँ हैं जिन्हें 'गन्धर्वा' कहा गया है, चन्द्र (इडा) नाड़ियाँ हैं जिन्हें 'पितर' कहा गया है, और सूर्य (पिंगला) नाड़ियाँ हैं जिन्हें यहाँ 'देव' कहा गया है, इस प्रकार ये ६३३३ देव हैं। इसीलिए ज्ञानी लोग बतलाते हैं कि प्राणायाम का साधन, प्राण पर विजय, प्राण-जागृति ब्रह्मचर्य प्राप्ति के लिए आवश्यक है। प्राणायाम के तप द्वारा (प्राणायामः परं तपः) ब्रह्मचारी इन देवताओं को तृप्त करता है। तभी ये देवता उसके अनुगामी हो जाते हैं। जरा आधुनिक भाषा में बोलें तो कर्मेन्द्रिय-वृत्तियाँ (गन्धर्वाः), ज्ञानेन्द्रिय-वृत्तियाँ (देवाः) और मन-इन्द्रिय-वृत्तियाँ (पितरो देवजनाः) ये सब अनगिनत अन्दर के देवता ब्रह्मचारी के पूर्ण वश में हो जाते हैं—उसके अनुयायी होकर चलते हैं। मतलब यह हुआ कि इन्द्रियाँ ब्रह्मचारी की सर्वथा अनुवर्तिनी हो जाती हैं। ब्रह्मचारी तपस्या द्वारा उनकी दिव्य शक्ति को जगाकर उन्हें पालित और पूरित करता है। हम भोगी लोग तो इन्द्रियों के गुलाम होते हैं और हमारी इन्द्रियाँ अशक्त, अदिव्य, तुच्छ रूप में रहकर हमें भटकाती रहती हैं।

ये तो अध्यात्म देवता हुए। आधिभौतिक में समाज में ब्राह्मण,

क्षत्रिय, वैश्य ही देव, पितर और गन्धर्व नामक देवता हैं। ये सब ब्रह्मचारी के पीछे चलते हैं। सब मस्तिष्क वाले ज्ञानी लोग, सब रक्षा करने की शक्ति रखनेवाले बली लोग और पृथिवी को (स्थूल जगत् को) स्थूल अर्थ-शक्ति से धारण करनेवाले सम्पन्न लोग अपने युग में ब्रह्मचारी के नेतृत्व में ही काम करते रहे हैं। इस युग में ऋषि दयानन्द इसके उदाहरण हो गुजरे हैं। ब्रह्मचारी ही है जो कि समाज की इन शक्तियों को अपने वश में कर अपना अनुयायी बना सकता है। ब्रह्मचर्य के तेज के सामने ही ये शक्तियाँ झुकती हैं, मिलकर काम कर सकती हैं। ब्रह्मचारी के इस मनुष्य-समाज में प्रकट होने वाले सामर्थ्य को तो हम मनुष्य अच्छी तरह अनुभव कर सकते हैं।

इसी तरह आधिदैविक सब देव—भूलोक की 'गन्धर्व' शक्तियाँ, अन्तरिक्ष की 'पितर' शक्तियाँ और द्युलोक की 'देव' शक्तियाँ—परमेश्वररूपी ब्रह्मचारी का अनुसरण कर रहीं हैं, यह देखा जा सकता है। परमेश्वर ही नहीं किन्तु मनुष्य जो पूर्ण ब्रह्मचर्य करता है उसके भी ये सब प्राकृतिक शक्तियां अनुकूल हो जाती हैं, अनुचर बन जाती हैं, यह पहले बतलाया ही जा चुका है। जिसने अपने अन्दर के देवों को वश में किया है, उसने बाहर के सब प्राकृतिक देवों को भी स्वयंमेव वश में कर लिया है। यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है। बाहर का सब-कुछ अन्दर का ही प्रतिबिम्ब है, इसकी सत्यता को याद रक्खें, तभी यह कथन हमारे अन्दर स्थान प्राप्त कर सकता है।

अन्त में मन्त्र के अन्तिम भाग की तरफ पाठकों का ध्यान आकर्षित करता हूँ। पहले मन्त्र में कहा था—**'स आचार्यं तपसा पिपर्त्ति'**। यहाँ कहा है **'सर्वान् स देवान् तपसा पिपर्त्ति'**। ब्रह्मचारी सबको पूर्ण करता है, सन्तुष्ट करता है। इसी प्रयोजन के लिए ब्रह्मचारी जन्मता है। इस भारी कार्य के लिए जो जबरदस्त साधन उसके पास है वह है 'तपसा'—तपस्या से। तपस्या से वह आचार्य को संतृप्त करता है। तपस्या से ही वह सब देवों को संतृप्त करता है। तपस्या से ही वह सब देवों को संतृप्त करता है। तपस्या ही ब्रह्मचारी की सम्पत्ति है, तपस्या में ही ब्रह्मचारी का ब्रह्मचारीपन

है।

दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि सब देवता ब्रह्मचारी के अनुयायी यूँ ही नहीं हो जाते। ब्रह्मचारी तपस्या से उन्हें संतृप्त करता है इसलिए वे उसके वशवर्ती, उसके अनुयायी होते हैं। ब्रह्मचारी देवों को संतृप्त करता है, असुरों को नहीं। वह देवों को तपस्या द्वारा संतृप्त करता है—इसका भी क्या मतलब हुआ? कौन-सी वस्तु से संतृप्त करता है? अब्रह्मचारी देवों को संतृप्त क्यों नहीं कर सकता? इसलिए इसकी यों व्याख्या करनी चाहिए कि आत्मा की शक्ति अनन्त है, वह जीवन-रस का अक्षय समुद्र है, वह दिव्यता का अटूट भण्डार है; ब्रह्मचारी जितनी-जितनी तपस्या करता है, संयम करता है, किसी प्रकार भी आत्म-शक्ति को व्यर्थ व्यय न होने देता हुआ उसे संचित करता है, रक्षित रखता है, उतना-उतना उसमें आत्मा की शक्ति, आत्मा का जीवन, आत्मा की दिव्यता भरती जाती है और अधिक-अधिक बड़ा ब्रह्मचारी बनता जाता है; उसमें भरती जाती यही आत्मशक्ति जीवन रस व दिव्यता है, जिससे कि वह देवों को संतृप्त करता है और उन्हें अपना बना लेता है। यह ब्रह्मचारी ही कर सकता है। मानो ब्रह्मचारी अपने तपस्या के बल से आत्मधेनु को दुह-दुह कर देवों को आप्यायित करता जाता है। इसका स्थूल अनुभव तब हो जाता है जब कोई ब्रह्मचारी तपस्या और संयम द्वारा ज्यों-ज्यों वीर्य संरक्षण करता है त्यों-त्यों उसका वीर्य प्राणशक्ति का रूप धारण कर उसमें भरता जाता है और उसकी सब सोयी पड़ी हुई अनगिनत प्राणनाड़ी रूपी देवताएँ इस प्राणपूर्त्ति को प्राप्त कर एक अवर्णनीय शक्ति, जीवन और दिव्यता से भरपूर हो हिलोरें मारने लगती हैं। यह चित्र हमारे सामने आ जाना चाहिए जब हम उच्चारण करते हैं—**सर्वान् स देवान् तपसा पिपर्त्ति।**

[३]

दूसरा जन्म—दिव्य जन्म

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मचारी ॥ छन्दः—उरोबृहती ॥

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः ।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्त्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः ॥
—अथर्व० ११ । ५ । ३

मन्त्रार्थ—आचार्यः=आचार्य **उपनयमानः**=उपनयन करता हुआ **ब्रह्मचारिणं**=ब्रह्मचारी को **गर्भं अन्तः कृणुते**=अपने गर्भ में करता है। **तं**=उसे **तिस्र रात्रीः**=तीन रात्रि तक [जब तक ज्ञान, कर्म, उपासना विषयक तीन प्रकार की अन्धकारों की अवस्था से गुजरकर वसु, रुद्र क्रम से आदित्य का उदय नहीं हो जाता तब तक] **उदरे**=पेट में, अपने अन्दर, अपने कुल में **विभर्त्ति**=धारण करता है **तं**=उस **जातं**=[विद्या से द्विजरूपेण] उत्पन्न हुए को **द्रष्टुं**=देखने के लिए, दर्शन करने के लिए **देवाः**=देवता **अभिसंयन्ति**=आते हैं, अभिमुख हो इकट्ठे होते हैं।

शारीरिक जन्म तुच्छ वस्तु है, असली जन्म तो वह है जो कि विद्या द्वारा मानसिक व आत्मिक (ज्ञानमय) तौर पर होता है। इसीलिए हमारे यहाँ 'द्विज' होने का इतना महत्त्व है। शरीर तो पशु का भी होता है, परन्तु मनुष्य की विशेषता यह है कि वह मानसिक व आत्मिक तौर पर जन्मे, वस्तुतः मनुष्य बने। अतएव आपस्तम्ब में लिखा है—

'स हि विद्यातस्तं जनयति तच्छ्रेष्ठं जन्म। शरीरमेव मातापितरौ जनयतः' अर्थात्, आचार्य उस ब्रह्मचारी को विद्या से जन्म देता है। वह ही श्रेष्ठ जन्म है। माता-पिता तो उसके शरीर को ही पैदा करते हैं। माता-पिता ने जिसे शारीरिक जन्म दिया,

उसे मानसिक व आत्मिक जन्म देना (मनुष्य बनाना) आचार्य का काम है। वर्तमान मनुस्मृति में तो यहाँ तक लिखा मिलता है—

कामान्माता पिता चैनं यदुत्पादयतो मिथः।
संभूर्ति तस्य तां विद्यात् या योनावभिजायते॥
आचार्यस्तस्य यां जातिं विधिवद् वेदपारगः।
उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साऽजरामरा॥

सचमुच वेदपारग आचार्य सावित्री द्वारा जिस जन्म को देता है वही सत्य होता है, वही अजर-अमर जन्म होता है। इस प्रकार का जन्म देने का सामर्थ्य विद्या में, सावित्री माता में और वेदज्ञानी आचार्य में ही है।

यह दूसरे जन्म की बात केवल अलंकार नहीं है, यह वास्तविक है, अनुभव की बात है। आचार्याधीन गुरुकुल में रहनेवाला व्रती वस्तुतः इतना बदल जाता है कि वह बिल्कुल नयी वस्तु बन जाता है, दूसरी योनि व जन्म में पहुँच जाता है। जब ब्रह्मचारी का उपनयन संस्कार होता है उसी समय से आचार्य उसे नया जन्म देना प्रारम्भ कर देता है, गर्भ रूप में उसे अपने अन्दर रख लेता है। आजकल ऐसा उपनयन (यज्ञोपवीत) संस्कार कहाँ होता है? ऐसे तेजोमय ज्ञानराशि आचार्य कहाँ हैं? ऐसे पूर्णतया आत्म-समर्पण करने वाले विद्यार्थी भी कहाँ हैं? पर, इसमें सन्देह नहीं है कि जहाँ यह हो जाता है, वहाँ आचार्य-गर्भ से जो स्नातक निकलते हैं, वे सत्य और अजर-अमर बनकर निकलते हैं, ऐसे सच्चे लोक के वासी बनकर निकलते हैं। जहाँ जरा और मृत्यु का भी भय नहीं रहता। आचार्य अपना यज्ञोपवीत देता हुआ ब्रह्मचारी को इतना अपने नजदीक लाता है (उप=समीप, नयन=लाना) कि उसे अपने अन्दर रख लेता है। तब आचार्य और ब्रह्मचारी में अभेद हो जाता है। उस समय आचार्य और ब्रह्मचारी के बीच कोई, किसी किस्म का पर्दा कैसे रह सकता है? ब्रह्मचारी आचार्य का हो जाता है। वह अपनी सब क्रियाएँ आचार्य के अन्दर करता है, आचार्य का अंग बनकर करता है। आचार्य के श्वास लेने में वह अपना श्वास लेता है, ऐसा कहा जाए तो भी अत्युक्ति

नहीं। सचमुच गुरुकुलवास आचार्य के अन्दर गर्भवास है।

पर, यह उपनयन कैसे होता है? ब्रह्मचारी आचार्य के पास इस प्रकार कैसे आकृष्ट होता है? कैसे दोनों में यह एकता स्थापित होती है? ये बातें कहने की नहीं हैं, क्योंकि यदि यह कहा जाए कि आचार्य शिष्य में शक्तिनिपात करता है, कि आचार्य 'मम चित्तं ते अस्तु' यह केवल जवानी नहीं बोलता, किन्तु शिष्य के अन्दर अपने सूक्ष्म शरीर द्वारा प्रविष्ट होकर उसके चित्तादि को अपने से मिला लेता है कि आचार्य शिष्य की कुण्डलिनी शक्ति को जगा देता है, कि आचार्य उसमें यह बीज बो देता है या उसे वैसा बीजरूप (गर्भरूप) बना देता है कि वह आचार्य की छाया में वेग से विकसित होता जाता है, कि ऐसे उपनयन संस्कार के समय सचमुच दो ज्योतियाँ प्रत्यक्ष परस्पर मिलती हैं, दोनों अन्तरात्माओं का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, तो इन बातों पर आज कौन विश्वास करेगा? तो भी ये बातें सत्य हैं और इसीलिए मैं कहता हूँ कि वेद का यह वचन केवल आलंकारिक वचन नहीं हैं, किन्तु वास्तविक तथ्य है।

आगे चलिए! वेद आगे कहता है कि आचार्य अपने पेट में इस गर्भ को तीन रात्रि तक धारण करता है। आचार्य का कुल, गुरुकुल ही वह उदर है जिसमें ब्रह्मचारी गर्भ बनकर (नौ महीने की जगह) तीन रात्रि तक रहता है। पर ब्रह्मचारी की तीन रातें इतनी बड़ी हैं कि हमारे ४८ वर्ष में पूरी होती हैं, जितनी देर में वह तीनों विद्याओं को (या चारों वेदों को) प्राप्त कर लेता है। तीनों विद्याओं को प्राप्त करने के लिए उसे तीन अविद्या की, अज्ञान की अवस्थाओं में से, तीन रात्रियों में से गुजरना पड़ता है। इसीलिए यहाँ तीन दिन न कह कर तीन रात्रि कहा है। लगातार तीन रात्रि तो हो नहीं सकती, वह तो एक ही तिगुणी रात्रि होगी। अतः बीच में बेशक दो दिन भी आते हैं, परन्तु वे दिन गौण वस्तु हैं, वे बीच के दिन (प्रकाश) भी धुँधले ही रहते हैं। असली दिन तो तीसरी रात्रि के बाद आदित्य-दर्शन होने पर ही निकलता है। पहली रात्रि जब समाप्त होती है (२४ वर्ष के बाद) तब अवश्य उसे

वसु-प्रकाश मिलता है, तब वह ऋक्, ज्ञानकाण्ड, भूलोक से ज्ञान से युक्त होता हैं। पर यदि वह इससे तृप्त नहीं होता, अगली रात्री में भी (३६ वर्ष तक) रहता है, तो उसे रुद्र-प्रकाश भी मिलता है, वह यजु, कर्म-काण्ड व अन्तरिक्ष के ज्ञान से युक्त होता हैं। परन्तु यदि वह तीसरी रात्रि भी ब्रह्मचारी अवस्था में बिता देता है तो ४८वें वर्ष में आदित्य के प्रकाश को पाकर साम, उपासना और द्युलोक का ज्ञान पा लेता है। तभी उसे आदित्य का साक्षात् दर्शन होता है। तभी ब्रह्मचारी का वह महान् उद्देश्य पुरा हो जाता है जिसको सामने रखने के लिए उपनयन-संस्कार के समय में उसे सूर्य-दर्शन कराया जाता है। यह कहने की ज़रूरत नहीं कि अथर्व, विज्ञानकाण्ड, इसी साक्षात्कार में समा जाता है। जो ब्रह्मचारी (४८वें वर्ष में या अपनी शक्ति अनुसार कम वर्ष में भी) इन तीनों रात्रियों से आचार्याधीन रहता हुआ गुजर जाता है, वही आदित्य ब्रह्मचारी आचार्य के गर्भ में पूर्ण उत्पन्न हुआ कहा जा सकता है।

कठोपनिषद् कहती है कि नचिकेता भी मृत्यु के घर में तीन रात्रि भूखा रहा था। प्रत्येक जिज्ञासु ब्रह्मचारी ही नचिकेता (न जानने वाला जिज्ञासु) है। आचार्य ही पहले रूप को सर्वथा बदल कर नया जन्म देने वाला (देखो मन्त्र १४) मृत्यु है। जब ब्रह्मचारी इस यम आचार्य के यहाँ तीन रात्रि तक, 'अनश्नन्', कुछ न खाता हुआ, भोग से सर्वथा पृथक् रहता हुआ ब्रह्मचर्यपूर्वक रहता है तो उसे तीन रात्रि की इस तपस्या के कारण तीन वर (तीन सिद्धि न तीन ज्ञान) प्राप्त होते हैं, (१) पिता आदि की सन्तुष्टि जैसे भूलोक के सुख का वर, (२) अन्तरिक्ष के स्वर्ग्य अग्नि के ज्ञान का वर फिर अन्त में, (३) गुह्य आत्मतत्त्व के दिव्य ज्ञान पर परम दुर्लभ वर। निःसन्देह ये ही तीनों ज्ञान हैं, जिन्हें पाकर आदित्य ब्रह्मचारी सत्य, अजर, अमर हो जाता है।

यह सब तीन रात्रियों तक भोगरहित रहने का फल है, सुदीर्घ तीन रात्रियों तक आचार्य गर्भ में ब्रह्मचर्यपूर्वक निवास करने का फल है। नहीं तो आदित्य कहाने वाला दिव्य जन्म नहीं मिल

सकता। संसार के सब दिव्य पुरुष—महावीर, गौतम, दयानन्द आदि—दिव्य ज्ञान से नये (रूपान्तर प्राप्त) बन जाने से पूर्व भगवान, बुद्ध व ऋषि बनने से पूर्व—ऐसी ही अन्धकारमय अवस्थाओं में से, रात्रियों में से गुजरे थे। ब्रह्मचारी की यह रात्रि के साथ सतत युद्ध करने की तपस्या ही उसे द्युलोक तक पहुँचाती है, आदित्य बनाती है, उसे दूसरा दिव्य जन्म प्राप्त कराती है।

अन्त में मन्त्र में कहा है कि जब इस प्रकार आदित्य ब्रह्मचारी आचार्य-गर्भ से जन्मता है, मानो आदित्य की तरह जगत् में उदित होता है, तो उसे देखने के लिए देवता आते हैं। जैसे साधारणतया बालक का भौतिक जन्म होने पर अड़ोसी-पड़ोसी उसे देखने के लिए आते हैं, वैसे इस महान् दिव्य जन्म के समय उसे देखने देवता आते हैं। इस समय देवता ही आएँगे। दुनियावी लोग इस दिव्य जन्म के महत्त्व को क्या जानें! न केवल संसार के देव अर्थात् दिव्य पुरुष, ज्ञानी पुरुष गुरुकुल से निकले ऐसे पूर्ण स्नातक को देखने आते हैं, परन्तु संसार की सब स्थूल-सूक्ष्म दिव्य शक्तियाँ (देवता) भी इस महत्त्वपूर्ण घटना के अवसर पर उसी तरह अभिमुख होती है, जैसे कि सूर्य उदित होने पर लोग पूर्वाभिमुख होकर देखने लगते हैं। इस बात को वे लोग अच्छी तरह समझ जाएँगे जो पहले और दूसरे मन्त्रों में कही निम्न बातों को हृदयांकित कर चुके होंगे।

१. तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति।

२. देवा अनुसंयन्ति सर्वे।

अर्थात् सब देवता उस (ब्रह्मचारी) में अनुकूल हो जाते हैं। सब देवता उसके पीछे चलते हैं। मतलब यह कि वह आदित्य ब्रह्मचारी इस जगत् में मानवता की इतनी पूर्ण कृति होता है कि वह देवताओं के भी देखने योग्य होता है । सचमुच ऐसे दिव्य जन्म होने के अवसर पर सम्पूर्ण दिव्य जगत् (देव जगत्) खुशी मनाता है और अभिमुख होकर उसका स्वागत करता है।

[४]

ब्रह्मचर्य के साधन

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मचारी** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

इयं स॒मित् पृ॑थि॒वी द्यौर्द्वि॒तीया॒ उ॒तान्तरि॑क्षं स॒मिधा॑ पृणाति।
ब्र॒ह्म॒चा॒री स॒मिधा॒ मेख॑लया॒ श्रमे॑ण लो॒काँस्तप॑सा पिपर्ति ॥

—अथर्व० ११।५।४

मन्त्रार्थ—इयं समित् पृथिवी=यह पहिलीं समिधा पृथिवी है **द्यौः द्वितीया**=द्युलोक दूसरी है **उत**=और **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष को भी **समिधा**=[तीसरी] समिधा से **पृणाति**=पूरित करता है यजन करता है। **ब्रह्मचारी**=ब्रह्मचारी **समिधा**=ज्ञानदीप्ति से **मेखलया**= मेखला **कटिबद्धता**=से **श्रमेण**=श्रम से **तपसा**=तप से **लोकान्**= सब लोकों, सब, संसारों, मनुष्यों को **पिपर्त्ति**=पालित पूरित करता है।

आचार्य से उपनीत होकर आचार्य-कुल में रहता हुआ ब्रह्मचारी अपनी ब्रह्मचर्य की साधना जिन साधनों से करता है, उनका वर्णन इस मन्त्र में किया गया है। वे साधन चार हैं—समिधा, मेखला, श्रम और तप। क्रमशः इनकी व्याख्या निम्न प्रकार है—

[१] **समित्**—समिधा का अर्थ है दीप्त होनेवाली वस्तु। सं+इन्ध् दीप्तौ। हवन की लकड़ियों को समिधा इसलिए कहते हैं चूँकि वे आग में पड़कर जल उठती हैं। यह समिधा ब्रह्मचारी का मुख्य लक्षण है और मुख्य साधन है। पुराने समय में यह प्रथा थी कि जिज्ञासु शिष्य 'समित्पाणि' होकर, अर्थात् समिधा हाथ में लेकर, गुरु के पास जाता था। इसका यह अर्थ होता था कि शिष्य गुरु के प्रति पूरी तरह आत्मसमर्पण करने के लिए और इस समर्पण द्वारा गुरुरूप अग्नि से अपने आपको संप्रदीप्त करने के लिए आया है। जैसे समिधा अग्नि में पड़कर अपने आपको बिल्कुल

खो देती है, अतएव जलकर अग्निरूप हो जाती है, उसी तरह शिष्य–ब्रह्मचारी अपने आपको आचार्याग्नि में खो देता है और वैसा ही प्रदीप्त हो जाता है। इसलिए आचार्य को 'अग्नि' कहा जाता है। उपनयन संस्कार में जब शिष्य से आचार्य पूछते हैं कि 'तू किसका ब्रह्मचारी है?' तो वह स्वभावतः कहता है कि 'आपका'। परन्तु आचार्य उसे शुद्ध करके कहते हैं—

''तू इन्द्र का ब्रह्मचारी है, अग्नि तेरा आचार्य है और फिर मैं तेरा आचार्य हूँ।'' बात यह है कि आचार्य वही पुरुष हो सकता है जो कि अग्निरूप हो, जो कि किसी ऊँची भावना की अग्नि से, किसी अग्नि से देदीप्यमान हो। ऐसा देदीप्यमान हो कि, जैसे अग्नि पर पतंगे आते हैं वैसे ही उसकी उच्च भावना को, उसके ज्वलन्त आदर्श को, उसके तेजस्वी ज्ञान को देखकर उसे पाने के लिए बहुत से शिष्य उसकी तरफ खिंचे चले आवें। परन्तु वह आचार्य इतना सच्चा होता है, अपना अग्नि से उसने इतनी एकता स्थापित की होती है—अतएव वह इतना निरभिमान होता है कि वह यही कहता और समझता है कि उसके शिष्यों का असली आचार्य अग्नि या अन्ततः इन्द्र परमेश्वर है, वह स्वयं नहीं। तात्पर्य यह है कि आचार्य किसी विद्या की, किसी ज्ञान की चमकती, प्रकाशमान अग्नि होता है और शिष्य उस अग्नि में अपने को समिधा बना कर उससे वैसा संप्रदीप्त होने के लिए आता है। यही समिधा हाथ में लेकर गुरु के पास आने का मतलब है।

इसी प्रकार गुरुकुल में जाकर ब्रह्मचारी का प्रतिदिन समित होम करने का विधान है। वह आचार्य की अग्नि में तीन समिधाओं का आधान करता है। वानप्रस्थी आचार्य जो प्रतिदिन अपना अग्निहोत्र करता है, उसी अग्नि में ब्रह्मचारी को तीन समिधा रखनी होती हैं। ब्रह्मचारी अपनी जुदा कोई अग्नि स्थापित नहीं करता, आचार्य की अग्नि ही उसकी अग्नि होती है। यह बात उसके आचार्यधीन होने से स्पष्ट है। तो उस आचार्यग्नि में वह जो तीन समिधा रखता है, उसका अर्थ क्या होता है यह इस मंत्र के पूर्वार्ध में कहा है। देखिए—

इयं समित् पृथिवी द्यौः द्वितीया,
उतान्तरिक्षं समिधा पृणाति।

अर्थात् यह पृथिवी समिधा है, द्यौ दूसरी समिधा और अन्तरिक्ष को वह तीसरी समिधा से पूरित करता है। इन तीन समिधाओं का तात्पर्य पाठक स्वयमेव समझ जायेंगे यदि उन्होंने गत मंत्र में कही तीन रात्रियों के अर्थ को अच्छी तरह समझ लिया है। पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ इस तीनों के विषय का जो अज्ञान है वही तीन रात्रियाँ हैं जिन्हें ब्रह्मचारी आचार्य-गर्भ में रहता हुआ पार करता है। इन तीनों अज्ञानों को पार करने के लिए ही वह प्रतिदिन तीन समिधा अग्नि में रखता है। निम्न कोष्ठक से पाठक यह समझ जायेंगे कि अग्निहोत्र की प्रसिद्ध तीन आहुतियों का तीन समिधाओं से क्या सम्बन्ध है।

पृथिवी स्थूल संसार का ज्ञान शरीर भूः अग्नि प्राण
अन्तरिक्ष सूक्ष्म संसार का ज्ञान मन भुवः वायु अपान
द्यौ दिव्य संसार का ज्ञान आत्मा स्वः आदित्य व्यान

एवं समिधा को अर्थ हुआ 'ज्ञान की दीप्ति' अपने आपको तीनों प्रकार के ज्ञान से दीप्त करना। जब ब्रह्मचारी आचार्याग्नि में या गुरुकुल की अग्नि में पहली समिधा रखता है तो वह उस द्वारा अपने आदर्श को, गुरुकुल के ध्येय को ज्वलन्त देखता हुआ उसमें अपने आपको (अपने शरीर को) समर्पित करता है कि जिससे वह अपने को पार्थिव ज्ञान से प्रदीप्त कर लेता है तथा उसकी शारीरिक उन्नति होती है। दूसरी समिधा द्वारा अपने आपको (अपने मन को) समर्पित करता है जिससे वह अपने को अन्तरिक्ष (सूक्ष्म जगत्) के ज्ञान के प्रदीप्त कर लेता है और उसकी मानसिक उन्नति होती है। एवं तीसरी बार वह अपने (अपनी आत्मा) को उसी (अपने ध्येय [ब्रह्म] की देदीप्यमान) अग्नि में समर्पित करता है, जिससे वह अपने को द्युलोक के (दिव्य) ज्ञान से प्रदीप्त करता है और उसकी आत्मिक उन्नति होती है।

आशा है इस संकेत से पाठक ब्रह्मचारी के समित् होम का अर्थ, उसकी पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ रूपी तीन समिधाओं का

तात्पर्य समझ गये होंगे।

[२] **मेखला**—मेखला तडागी को कहते हैं। इसके बाँधने से वीर्य रक्षा में सहायता मिलती है, ऐसा कहते हैं। इससे अण्डकोष की रोगों से रक्षा होती है, यह तो प्रमाणित ही हो चुका है। मूँज, सूत आदि से बनी यह मेखला कटिप्रदेश में बाँधी जाती है जिसमें कौपीन लगाया जाता है। जैसे समिधा ज्ञानदीप्ति का चिह्न है, वैसे मेखला कटिबद्धता का चिह्न है। ब्रह्मचारी को सदा कटिबद्ध, सिपाही की तरह सदा तत्पर, तैयार, चुस्त, मुस्तैद, सावधान, जागता हुआ रहना चाहिए, कभी बेखबर, असावधान, आरामतलब, ढीला-ढाला, सुस्त नहीं होना चाहिए। यह ब्रह्मचारी का दूसरा साधन है।

[३] **श्रम**—ब्रह्मचारी का तीसरा साधन है श्रम। ब्रह्मचारी को दिन भर कार्य में लगे रहकर अपने को थका लेना चाहिए। जो ब्रह्मचर्य करना चाहता है, उसे दिन में कभी एक क्षण भर के लिए भी खाली नहीं रहना चाहिए। उसका दिन भर का कार्यक्रम पूरी तरह भरा रहना चाहिए। उसे दिन भर में कभी भी फुरसत नहीं मिलनी चाहिए। उसे थक कर रात्रि को ही आराम लेना चाहिए। अतएव ब्रह्मचारी के लिए दिन में सोना मना है। आजकल शारीरिक श्रम की अवहेलना करके संसार बहुत दुःख पा रहा है। ब्रह्मचारी ही श्रम की महिमा जानता हुआ संसार को अपने श्रम से पालित पूरित कर सकता है।

श्रमेण लोकाँस्तपसा पिपर्त्ति

जो श्रम नहीं करता, उस पर असुर लोग आसानी से कब्जा कर लेते हैं। खाली पुरुष ही शैतान का शिकार होता है। वेद में अन्यत्र कहा है—

नाश्रान्तस्य सख्याय देवाः

जो श्रम नहीं करता उससे देवता मैत्री (सख्य) नहीं करते। देवता तो प्रमादी, आलसी को ताड़ना करते हैं। प्रमादी, आलसी लोग तो असुरों के प्यारे होते हैं, देवों के नहीं क्योंकि वे स्वयं अप्रमादी, अनलस और अनिमेष होते हैं। इसलिए जिस ब्रह्मचारी के पीछे ये देव भी चलते कहे गये हैं। वह ब्रह्मचारी श्रम का कितना

बड़ा धनी होना चाहिए यह बात हम स्वयं ही विचार सकते हैं। तो श्रम ब्रह्मचारी के लिए तीसरी अनिवार्य शर्त हैं।

[४] **तप**—तप का अर्थ व्यास जी ने किया है 'द्वंद्वसहन'। इसकी व्याख्या आगे आ जायेगी। यहाँ तो इतना जानना काफी है कि भूख, प्यास, गर्मी, सर्दी, सुख-दुःख आदि को सहना तप है। यह ब्रह्मचारी के लिए ज़रूरी है। इसके बिना वह ब्रह्म-प्राप्ति के मार्ग पर, अपने उद्दिष्ट ध्येय की तरफ एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकता। कष्ट को सहन करना तो ब्रह्मचारी के लिये खेल होना चाहिए। यह चौथी बात हो गई।

इस मंत्र के उत्तरार्ध में इन चारों का नाम लेकर कहा है कि समिधा मेखला श्रम और तप के द्वारा ब्रह्मचारी लोकों को पालित पूरित करता है।

ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकाँस्तपसा पिपर्त्ति॥

पहले मंत्र में आचार्य को 'तपसा पिपर्त्ति' कहा है, फिर दूसरे में 'देवान् तपसा पिपर्त्ति' कहा है, यहाँ 'लोकान् तपसा पिपर्त्ति' कहा है। अपने आचार्य को और देवों ही को नहीं किन्तु सब लोकों को, सब संसार को, सब मनुष्यों को ब्रह्मचारी 'तप से' संतृप्त करता है। ब्रह्मचारी के इस तप की व्याख्या में ही यहां समिधा, मेखला और श्रम कहे गये हैं। ये तीनों क्रमशः मन, प्राण, शरीर के तप हैं। समिधा (ज्ञानदीप्ति) मानसिक तप हैं, मेखला (तत्परता) प्राणमय तप है और श्रम शारीरिक तप है, ऐसा समझा जा सकता है। अस्तु।

परन्तु इस मन्त्र की व्याख्या समाप्त करने से पूर्व मैं जिस बात की तरफ पाठकों का ध्यान अवश्य खींचना चाहता हूँ वह यह है कि स्थूल ब्रह्मचर्य अर्थात् वीर्य-रक्षण के लिए भी सर्वोत्कृष्ट साधन ये चार बातें ही हैं। वीर्य धातु शरीर में तब तक रक्षित नहीं हो सकती है जब तक कि इसे शरीर में अन्दर ही लगातार खर्च न किया जा सके। जब शुक्र यूँ ही पड़ा रहेगा तो यह जरा-सी असावधानी से, जरा-सी उत्तेजना से, जरा-से इशारे से अधोगामी हो जायगा। यह वीर्य ऊर्ध्वगामी हो, यह वीर्य शरीर में लगातार खर्च होता रहे इसके लिए यह आवश्यक है कि इसका लगातार

किसी शक्ति में रूपान्तर होता रहे। स्वामी रामतीर्थ जी ने अपने ब्रह्मचर्य के व्याख्यान में दीपक की उपमा दी है। जैसे दीपक का तेल बत्ती द्वारा ऊपर चढ़ कर प्रकाश के रूप में परिणत होता रहता है वैसे ब्रह्मचारी के अन्दर का वीर्य सुषुम्ना नाड़ी द्वारा प्राण बनकर ऊपर चढ़ता हुआ ज्ञान-दीप्ति में परिणत होता जाता है। सिर हमारा द्युलोक है। यही हम में प्रकाशित होने का स्थान है। यदि हम सिर में गम्भीर चिन्तन द्वारा, धारणा, ध्यान, समाधि द्वारा समिद्ध (प्रदीप्त) हो जावेंगे तो हमारा वीर्य उस प्रकाश का ईंधन बनता रहेगा। यह समिधा द्वारा वीर्य रक्षा हुई। इसी तरह सिपाही की तरह तत्पर रहने से, जागृत रहने से, इस शक्ति के रूप में वीर्य का व्यय होता रहता है। वीर्य इस शक्ति का रूप धारण करता रहता है एवं श्रम की शक्ति में वीर्य प्राण बनकर रूपान्तरित होता रहता है और गर्मी सर्दी तप से भी सहन शक्ति के रूप में वीर्य का रूपान्तर होता रहता है यह बात हम आसानी से समझ सकते हैं। ज्ञानदीपन, तत्परता (लगन), श्रम और कष्ट सहन न करते हुए वीर्यरक्षा करने का यत्न करना ही वृथा है। और इनके करते हुए वीर्यरक्षा करना बहुत ही आसान है।

यहाँ यह भी स्पष्ट है कि ज्ञानदीपन, तत्परता, श्रम और तप भी मनुष्य यूँ ही नहीं कर सकता। इनका अवलम्बन 'ब्रह्मचारी' ही कर सकता है अर्थात् वह मनुष्य कर सकता है जो कि ब्रह्म के लिए फिर रहा है, जो कि अपने सामने कोई महान बृहत् ध्येय रखता है। जो ब्रह्मचारी अपने सामने किसी बृहत् अग्नि को देखता है, वही उसके लिये अपने आपको समिधा बना सकता है, अपने को समिद्ध कर सकता है, उस के लिए मेखलावान् बद्ध-परिकर हो सकता है और वही उसके लिये दिन-रात खुशी से श्रम करता हुआ और तपस्या करता हुआ रह सकता है। अतः अन्त में यही कहना होता है कि यदि हमने सचमुच वीर्यरक्षा प्राप्त करनी है तो हमें अपने सामने कोई महान् ध्येय रखना चाहिए जिसका ध्यान हमारे वीर्य को ऊर्ध्वगामी कर देवे, सतत् किसी शक्ति में रूपान्तर होने वाला कर देवे। यही पूर्ण वीर्यरक्षा प्राप्त करने का रहस्य है।

ब्रह्मचारी उठता है!

ऋषि:—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मचारी ॥ छन्द:—त्रिष्टुप् ॥

पूर्वो जातो ब्रह्मणो ब्रह्मचारी घर्मं वसानस्तपसोदतिष्ठत्।
तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम् ॥

—अथर्व० ११।५।५

मन्त्रार्थ—ब्रह्मण:=ब्रह्म से **पूर्व:**=पहिला होकर या पहिले **जात:**=उत्पन्न हुआ **ब्रह्मचारी**=ब्रह्मचारी **घर्मं वसान:**=तेज को धारण किये हुए **तपसा**=तप से **उदतिष्ठत्**=उठता है। **तस्मात्**=उससे **ब्राह्मणम्**=ब्रह्मसम्बन्धी **ज्येष्ठं ब्रह्म**=उत्कृष्ट ज्ञान **जातम्**=उत्पन्न होता है, **देवा: च सर्वे**=और सब देव **अमृतेन साकम्**=अमृत से युक्त हो जाते है।

ब्रह्मचारी तप से ऊँचा उठता है, उन्नत होता है। तप में ऊँचा करने की शक्ति है और ब्रह्मचारी की सब साधना तपरुप है। अत: ब्रह्मचारी तप से ऊँचा उठता है।

अग्नि का स्वभाव ऊपर तरफ गति करना है। ब्रह्मचारी जो प्रतिदिन समिद् होम करता है, तीन समिधाओं द्वारा अग्नि की उपासना करता है उसे यह अग्निपूजन का तप ऊँचा उठा देता है। अथवा यों कहना चाहिये कि अग्निपूजन करने से वह 'धर्मं वसान:' बनता हैं, घर्म अर्थात् दीप्ति व तेजस्विता को धारण करने वाला बनता है। जैसे हम लोग कपड़े धारण करके सजते हैं या सजना चाहते है वैसे ब्रह्मचारी घर्म को, दीप्ति व तेजस्विता, प्रचण्डता व प्रताप को धारण किये हुए शोभायमान होता है, अंपने को तेजस्विता से आच्छादित किये हुए सुशोभित होता है, तीन समिधाओं का आधान उसमें प्रतिदिन शारीरिक, मानसिक और आत्मिक तेज को पैदा करता जाता है। अत: जब वह अपनी तपस्या को समाप्त करता

है तो वह बड़े भारी तेज को धारण किये हुए अपनी तपस्या से उठता है।

घर्मं वसानस्तपसोदतिष्ठत्।

वह ब्रह्मचारी किसलिए उठता है? संसार में ब्रह्म को जन्म देने के लिए। कैसे ब्रह्म को ? ज्येष्ठ ब्रह्म को। ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्म सम्बन्धी ज्येष्ठ ब्रह्म को। यह क्या विचित्र बात है कि ब्रह्मचारी ब्रह्म को पैदा करता है? दूसरी जगह भी कहा है—

ब्रह्म ब्रह्मचारिभिरूदक्रामत्। —अथर्व० १९।१९।७४

अर्थात् ब्रह्म ब्रह्मचारियों से उत्क्रान्त हुआ, निकला। पर इस में विचित्रता कुछ नहीं, बल्कि यही स्वाभाविक है। जो ब्रह्मचारी ब्रह्म की खोज में चलता है वही ब्रह्म को प्राप्त करके, ब्रह्मनिष्ठ होकर, जगत् में ब्रह्म का विस्तार करता है। इसी बात को इस वेदमंत्र में यूँ कहा है कि पहले ब्रह्मचारी ब्रह्म से पैदा होता है और फिर उस (ब्रह्मचारी) से ब्रह्म पैदा होता है, ब्राह्मण ज्येष्ठ ब्रह्म उससे पैदा होता है।

यहाँ जरा ठहर कर ब्रह्मचारी के ध्येयरूप 'ब्रह्म' शब्द पर और विचार कर लें और यह समझ लें कि जहां ब्रह्म का अर्थ वह बृहत् वस्तु है जो कि ब्रह्मचारी का प्राप्तव्य लक्ष्य है, और जो कि अन्त में सबसे बृहत् परमेश्वर है वहाँ बृहत् होने के कारण ही ज्ञान का नाम भी ब्रह्म है (जो कि परमेश्वर का स्वरूप है) और ज्ञानात्मक होने से ईश्वरीय वेद का नाम भी ब्रह्म है। एक ब्रह्म से ब्रह्मचारी पैदा हुआ है और एक ब्रह्म को वह पैदा करता है जिस ब्रह्म से वह पैदा हुआ उसका वर्णन इस मन्त्र में इस प्रकार हुआ है—

पूर्वो जातो ब्रह्मणो ब्रह्मचारी

'ब्रह्म से ब्रह्मचारी पहले जन्मा है।' ब्रह्मचारी ब्रह्म की पहली कृति है, उत्कृष्ट कृति है। पूर्व का अर्थ पूर्ण भी हो सकता है। मतलब यह है कि बृहत् परमेश्वर से ब्रह्मचारी सर्वोत्कृष्ट होकर, पहला होकर पैदा होता है, ब्रह्मचारी आचार्य से पैदा होता है इसका अर्थ भी अन्ततः यही है कि वह परमेश्वर से पैदा होता है, अन्ततः

आचार्य परमेश्वर ही है, यह सब पहले स्पष्ट किया जा चुका है। उस ब्रह्म से ब्रह्मचारी पहला होकर, पूर्व होकर, इसलिए पैदा हुआ है क्योंकि वह स्वयं ब्रह्मचारी है। परमेश्वर तो सर्वथा भोगरहित परम ब्रह्मचारी है। जब वह ब्रह्मचारी होकर यह सब जगत् रचता है, उसकी सर्वश्रेष्ठ रचना इस जगत् में ब्रह्मचारी ही है। अस्तु। इतना तो साफ है कि इस मंत्र में कहा है कि पहले या पहला होकर ब्रह्म से ब्रह्मचारी पैदा हुआ है। आगे इस मंत्र में ब्रह्मचारी से ब्रह्म की भी उत्पत्ति कही है—

तस्माज्जा॒तं ब्राह्म॑णं॒ ब्रह्म॒ ज्ये॒ष्ठम्

'उस (ब्रह्म से पैदा हुए ब्रह्मचारी) से ब्रह्मसम्बन्धी श्रेष्ठ ज्ञान पैदा हुआ है'—कैसी सुन्दर बात कही है! कितने महान् सत्य का यहां दर्शन कराया है! ब्रह्मचारी ब्रह्मपन को सीधा ब्रह्म से प्राप्त करके संसार को देता है। परमेश्वर के वेदज्ञान को साक्षात् परमेश्वर से प्राप्त करके संसार में उसे फैलाता है। इस बात को यहाँ इस प्रकार कहा है कि वह पहले खुद परमेश्वर (ब्रह्म) से पैदा हैता है और फिर परमेशवर के महान् ज्ञान (ब्रह्म) को संसार में पैदा करता है। असल में परमेश्वर तो अपने ज्ञान के साथ सदा और सर्वत्र छिपा हुआ है, केवल उसे प्रादुर्भूत करने या पैदा करने की जरूरत होती है। पर उसे पैदा करने की यह शक्ति ब्रह्मचारी में ही होती है क्योंकि वह स्वयं ब्रह्म से प्रादुर्भूत होता है पैदा होता है। वैसे तो सारी दुनिया ही ब्रह्म से पैदा हुई है किन्तु ब्रह्मचारी ज्ञान द्वारा ब्रह्म से, सीधा ब्रह्म से, जन्म प्राप्त करता है। इसलिए ब्रह्मचारी में वह शक्ति होती है जिससे वह इस ईश्वर-हीन दिखाई देने वाले संसार में ब्रह्मसम्बन्धी ब्रह्म को, परमेश्वर सम्बन्धी ज्ञान को प्रादुर्भूत करता है, परमेश्वर सम्बन्धी ज्येष्ठ ज्ञान को, सर्वोकृष्ट ज्ञान को, उच्चतम ज्ञान को पैदा करता है। परमेश्वर सम्बन्धी मामूली निराधार ज्ञान तो बहुत लोग बोलते रहते हैं, और केवल शाब्दिक चर्चा करनेवाले तो बहुत ही अधिक हैं, परन्तु परमेश्वर के अनुभूतिकारक सच्चे ज्ञान को, उत्कृष्ट ज्येष्ठ ज्ञान को तो ऐसा ब्रह्मचारी ही जगत् में उत्पन्न कर सकता है जिसने ब्रह्म को स्वयं साक्षात्कार किया है, अनुभव कर लिया है, जिसने अपना जन्म

ही उस ब्रह्म से प्राप्त किया है, जो कि ब्रह्मजात है। उस ब्रह्मजात ब्रह्मचारी के द्वारा न केवल इस संसार में ईश्वरीय ज्येष्ठ ज्ञान पैदा होता है किन्तु उस द्वारा सब देवता लोग अमृत से युक्त हो जाते हैं। देव होना अमर होना है अमृतत्व, अमरता ही देवों की मनुष्यों से विशेषता है। ज्ञान द्वारा, ब्रह्म द्वारा यह मर्त्य मनुष्य ही एक दिन अमर और देव हो जाता है। मतलब यह कि ऐसे ब्रह्मचारी के द्वारा संसार में ब्रह्मज्ञान दिव्यता और अमरता पैदा होती है। परमेश्वर पराङ्गमुख, भोगोन्मत:, अज्ञानग्रस्त संसार में आत्मज्ञान का प्रादुर्भाव होता है, आत्मोन्मुख होने से सहजतया होनेवाले चमत्कार प्रकट होते हैं, बहुत से मनुष्य अपने क्षुद्र मर्त्यजीवन को छोड़ने के लिये व्याकुल हो उठते हैं और ब्रह्मचारी से लाये गये इस ज्येष्ठ ब्रह्म को प्राप्त करके ये अमृत से युक्त दिव्य देव बन जाते हैं।

यह देखो! इस ब्राह्माण्ड में जो यह देव-संसार दिखाई देता है, यह सब ब्रह्मचारी से उत्पादित ब्रह्मज्ञान को पाकर ही तो अमृत से युक्त हुआ है।

हाँ, मैं यह कह रहा था कि ब्रह्मचारी तप से उठता है, ऊँचा उठता है। स्वयं ऊँचा उठता है इसलिये उसमें दूसरों को उठाने की शक्ति होती है, इसलिये उसमें ब्रह्मज्ञान को पैदा करने की शक्ति होती है। वह जगत् में ब्रह्मज्ञान पैदा करने के लिये ही उठता है, संसार में दिव्यता और अमरता का संदेश लाने के लिये ही उठता है। इसीलिए यह संसार अज्ञान के अन्धेरे में भटकता हुआ और मृत्यु से बुरी तरह मारा हुआ ब्रह्मचारी के उठने की प्रतीक्षा कर रहा है। अन्य सब तरफ से निराश हुआ यह संसार देख रहा है कि हमारे लिए तपस्या में बैठा हुआ ब्रह्मचारी कब उठता है, तेज को धारण किये हुए अपनी तपस्या से कब उठता है?

[६]

ब्रह्मचारी आता है!

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मचारी ॥ छन्दः—शाक्वरगर्भा चतुष्पदा जगती ॥

ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः ।
स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्त्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत् ॥

—अथर्व० ११।५।६

मन्त्रार्थ—समिधा समिद्धः=समित् होम से ज्ञानदीप्त हुआ-हुआ **कार्ष्णं वसानः**=काला मृगचर्म पहने हुए **दीर्घश्मश्रूः**=बढ़ी हुई दाढ़ी मूँछ वाला **दीक्षितः**=व्रत ग्रहण किये हुए **ब्रह्मचारी एति**=ब्रह्मचारी आता है। **सः**=वह ब्रह्मचारी **लोकान् संगृभ्य**=लोकसंग्रह करके **मुहुः आचरिक्रत्**=पुनः पुनः चारों तरफ से कर्म करता हुआ **सद्यः**=शीघ्र ही **पूर्वस्मात् समुद्रात्**=पहले ज्ञानसमुद्र से **उत्तरं समुद्रम्**=दूसरे उत्कृष्टतर ज्ञानसमुद्र को **एति**=पहुँचता है।

ब्रह्मचारी आता है, अपनी तपस्या से उठकर जगत् में आता है। वह समिधा से समिद्ध हुआ-हुआ, संप्रदीप्त हुआ-हुआ जगत् में आता है। उसने अपने साधनाकाल में जो प्रतिदिन अग्नि में समिधाधान किया है, उसके कारण वह शारीरिक दीप्ति से, मानसिक विद्युत् से और आत्मिक तेज से युक्त हो जाता है अथवा यूँ कहें कि उसके कारण वह पार्थिव अग्नि से, अन्तरिक्ष की प्राणाग्नि से और द्युलोक की आदित्याग्नि से जगमगा उठता है, देदीप्यमान हो जाता है। यह दीप्ति, यह तेज ही उसे शोभायमान करता है, उसे अलौकिक सौन्दर्य से युक्त करता है। दुनिया के लोग रंग-बिरंगे, चमकीले, भड़कीले कपड़े पहनकर अपनी सजावट करते हैं। दाढ़ी-मूँछ मुँडाकर प्रतिदिन 'क्षुरकृत्य' करके, अपना मुखमण्डल शोभायमान रखना चाहते हैं। इससे उनकी सजावट या शोभा

सचमुच हो जाती है या नहीं, यह सन्देहास्पद ही है। परन्तु ब्रह्मचारी तो इन झगड़ों में पड़ता ही नहीं, पड़ी ही नहीं सकता चूँकि वह दीक्षित होता है, व्रत धारण किये होता है। उसको, उसके मन को, इन बातों की फुरसत ही नहीं हो सकती, इसलिए वह तो स्वाभाविकतया दाढ़ी मूँछ बढ़ाए, दीर्घश्मश्रु और कपड़े के नाम पर काले रंग का मृगचर्म पहने हुए दुनिया में आता है।

काले रंग के मृगचर्म पहनने में ब्रह्मचर्य की दृष्टि से क्या विशेषता है, यह विद्वान् पाठक विचार लें। परन्तु नैष्ठिक ब्रह्मचारी के लिए सूत्रग्रन्थों में भी पीले की जगह काले रंग के वस्त्र का ही विधान मिलता है। आजकल न्यायाधीशों (जजों) का चोला भी काला ही क्यों रक्खा गया है, यह भी विचारणीय है। काला मृगचर्म ही हो, यह तो आवश्यक नहीं प्रतीत होता, परन्तु काले परिधान का वर्णन तो स्पष्ट प्रतीत होता है। इसी तरह दाढ़ी-मूँछ रखने में सादगी और स्वाभाविकता के अतिरिक्त कुछ और भी ब्रह्मचर्य की दृष्टि से अभिप्राय है कि नहीं, यह भी विद्वान् अनुभवी लोग अधिक विचार कर सकते हैं। बालों को स्वतन्त्रता और स्वाभाविकता के साथ बढ़ने देने से शरीर का विद्युत् प्रवाह ठीक रहता है, ऐसा अवश्य सुना जाता है। अस्तु, इतना तो स्पष्ट है कि ब्रह्मचारी को सुन्दर कपड़ों और क्षुरकृत्य द्वारा सजावट-बनावट करने की जरूरत नहीं होती, वह तो कृष्णाजिन पहने दाढ़ी मूँछ बढ़ाये हुए भी केवल समिधा से 'समिद्ध' होने के कारण सुशोभित होता है। अपनी दीप्ति, तेज, ज्ञान से ही वह ऐसा शोभायमान होता है कि ये ही उसके कपड़े होते हैं। इसीलिए गत मन्त्र में ब्रह्मचारी के लिए 'घर्मं वसानः' (तेज को पहने हुए) कहा है। ब्रह्मचारी में उसकी सादगी, सरलता, शान्ति, धैर्य, तेजस्विता, दीप्ति, तपस्या आदि के कारण जो दिव्य सौन्दर्य होता है, वह ही उसे संसार के उन्नतिशील लोगों के लिए अद्भुत प्रकार से सुन्दर, प्यारा और आकर्षक बनाता है। यह ठीक है कि ब्रह्मचर्य के इस सौन्दर्य को बाह्य को देखने वाले लोग नहीं समझ सकते। अस्तु, यहाँ यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि ये सब दिव्य सौन्दर्य के उत्पन्न करनेवाले गुण ब्रह्मचारी के अन्दर उसके समिधा से समिद्ध होने के कारण

आते हैं या और मूल में जावें तो दीक्षित होने के कारण आते हैं। आजकल भी जो छोटी-मोटी दीक्षाएँ ली जाती हैं, उनमें बाहरी बनाव-सजाव के लिए गुंजायश नहीं मानी जाती। उन दिनों दाढ़ी बनाना, बाल काटना बुरा समझा जाता है। पर यह तो केवल ध्वंसावशेष रह गया है। मतलब यह कि ब्रह्मचारी समिधा से समिद्ध हुआ-हुआ, दीर्घश्मश्रु, 'कार्ष्ण' पहने हुए, इसे (बाहर से देखने में असुन्दर) रूप में जगत् में आता है।

क्यों आता है? आकर क्या करता है? यह बात मन्त्र के उत्तरार्द्ध में कही गयी है। यह ब्रह्मचारी लोगों को सम्यक्तया गृहीत करके, वश में करके, लोकसंग्रह करके बार-बार चारों तरफ से कर्म करता हुआ शीघ्र ही पूर्व समुद्र से उत्तर समुद्र को पहुँच जाता है। समुद्र से यहाँ मतलब ज्ञानसमुद्र से है, जैसाकि इस सूक्त के अन्तिम मन्त्र के वर्णन से स्पष्ट है। इसी ज्ञान-समुद्र में स्नान कर चुकने पर 'स्नातकं' (नहाया हुआ) बनता है। इतना ही नहीं, किन्तु स्नातक ब्रह्मचारी पहले ज्ञानसमुद्र से उठकर दूसरे उत्कृष्टतर ज्ञानसमुद्र को प्राप्त कर लेता है। यह कार्य संसार में ब्रह्मचारी ही करता है। जो यह संसार समय-समय पर अपनी आवश्यकतानुसार नये-नये ज्ञान-स्तर को प्राप्त कर रहा है सो यह उस समय के महान् ब्रह्मचारी के द्वारा ही करता है। ब्रह्मचारी ब्रह्म व ज्ञान का तपस्यापूर्वक आचरण करता हुआ उस ज्ञानतत्व को, जिसकी कि जगत् को जरूरत होती है, प्राप्त कर लेता है, शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है, न केवल वह उसका श्रवण और मनन कर लेता है, किन्तु निदिध्यासन और साक्षात्कार कर लेता है। ज्ञानसमुद्र को, उस नवीन स्तर को वह सद्यः—शीघ्र ही—अपनी तपस्या के बल से प्राप्त कर लेता है। जिसकी प्राप्ति या यत्न करते हुए संसार को युग लग जाते हैं, इसी बात को वेद में कहा है कि वह ब्रह्मचारी शीघ्र ही पूर्व समुद्र से उत्तर समुद्र को जा पहुँचता है। मानो पार्थिव समुद्र से अन्तरिक्ष समुद्र को प्राप्त कर लेता है। पर वह इस प्रकार केवल अपने आप को ही ज्ञानसमुद्र के पूर्व स्तर से उत्तर स्तर को नहीं पहुँचाता, परन्तु संसार को ही एक स्तर ऊँचा उठा देता हैं। इसी के लिए उसे लोगों को सम्यक्तया गृहीत करना, वश करना पड़ता है, लोकसंग्रह के

लिए बड़ा भारी अनवरत और प्रबल प्रयत्न करना पड़ता है, सब संसार के कर्मप्रवाह को चारों तरफ से एक ही विशेष दिशा में प्रवाहित करने का महान् कर्म करना पड़ता है। इसी लोकसंग्रह और पुनः-पुनः कर्म-सञ्चालन द्वारा वह जगत् को पूर्व समुद्र से उत्तर समुद्र तक पहुँचा देता है। इसीलिए जगत् में नैष्ठिक ब्रह्मचारी की जरूरत होती है। ब्रह्मचारी की असीम शक्ति को बिना प्राप्त किये ऐसे युगपरिवर्तन का महान् कार्य अन्य किसी प्रकार की शक्ति से सम्पन्न होना असम्भव हैं। ब्रह्मचर्य का सच्चे ज्ञान के साथ अटूट सम्बन्ध है। पुराने ऋषियों ने इसी कारण प्रत्येक मनुष्य के लिए ही ज्ञान-प्राप्ति-काल को ब्रह्मचर्य आश्रम के काल से जोड़ देना आवश्यक समझा था। वस्तुतः ब्रह्मचर्य के बिना सत्य और उत्कृष्टतर ज्ञान की प्राप्ति हो ही नहीं सकती। इसीलिए संसार को पहले ज्ञानसमुद्र से उतर ज्ञानसमुद्र तक पहुँचाने के लिए जगत् में ब्रह्मचारी आता है। वह देखो, ब्रह्मचारी आता है, तेजोराशि ब्रह्मचारी आता है। देखने में सीधा-साधा जंगली-सा है, किन्तु संसार के ज्ञानस्तर को ऊँचा उठा देने के लिए आता है।

[७]

असुरों का संहारक इन्द्र-ब्रह्मचारी

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मचारी ॥ छन्दः—विराड्गर्भा त्रिष्टुप् ॥

ब्रह्मचारी जनयन् ब्रह्मापो लोकं प्रजापतिं परमेष्ठिनं विराजम्।
गर्भो भूत्वाऽमृतस्य योनाविन्द्रो ह भूत्वाऽसुरांस्ततर्ह ॥

—अथर्व० ११।५।७

मन्त्रार्थ—ब्रह्मचारी=ब्रह्मचारी **ब्रह्म**=ज्ञान **अपः**=कर्म **लोकम्**=और लोक को **जनयन्**=प्रकट करता हुआ, **प्रजापतिम्**=प्रजापति [अवस्था] को प्रकट करता हुआ और **परमेष्ठिनं विराजम्**=अपेक्षया परम में स्थिर होनेवाली विराट् अवस्था को प्रकट करता हुआ, **अमृतस्य योनौ गर्भो भूत्वा**=अन्त में अमृत की योनि में गर्भभूत रहकर **इन्द्रः भूत्वा**=अब इन्द्र बनकर **ह**=निश्चय से **असुरान्**=असुरों का **ततर्ह**=नाश करता है।

असुरों का संहार करना बड़ा कठिन काम है। असुरों को हम दबाते हैं पर वे किसी न किसी रूप में फिर निकल आते हैं, एक सिर क़ाटते हैं तो दूसरी जगह दस सिर निकल आते हैं। देवासुर-संग्राम शाश्वत सा बना हुआ है। कम से कम यह ठीक है कि जब हम समझ लेते हैं कि अमुक असुर नष्ट हो गया तब वह प्रायः फिर उभरने के लिये केवल दब गया होता है और किसी असुर का वस्तुतः विनाश बहुत विरला होता है। विरला होता है यह ठीक है, पर असम्भव नहीं। असुरों का वस्तुतः नाश हो सकता है और पूरी तरह नाश हो सकता है। असुरों को यह पूरी तरह नाश कर देने की शक्ति ब्रह्मचर्य में है, ऊँचे दर्जे के ब्रह्मचर्य में है। जब ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य करता हुआ इन्द्र अवस्था को प्राप्त हो जाता है तो उसमें वह शक्ति आ जाती है कि वह असुरों का पूर्णतया संहार कर देता है। कहना चाहिये कि उनका बीज नाश कर देता है।

इन्द्र-ब्रह्मचारी से मारा हुआ असुर फिर नहीं उठता।

गत मंत्र में कहा है कि ब्रह्मचारी जगत् में आता है। वह जगत् में क्यों आता है, इस बात को दूसरे शब्दों में यहाँ यों कहा है कि वह असुरों का विनाश करने के लिये आता है। जिस असुर के उपद्रव से दुनिया व्याकुल हो चुकी होती है, जिसके संहार के लिये और कोई उपाय कारगर नहीं होता, बार-बार विफलता पर विफलता होती है। उसका संहार कर देने के लिए, उसे दग्धबीज कर देने के लिये ब्रह्मचारी आता है, कोई तपस्या करता हुआ महान् ब्रह्मचारी इन्द्र अवस्था को प्राप्त करता है। इन्द्रत्व-प्राप्त ब्रह्मचारी के सामने, सच्चे इन्द्र के सामने कोई असुर ठहर नहीं सकता।

वह इन्द्र अवस्था क्या है? यह ब्रह्मचर्य की सर्वोत्कृष्ट चरम अवस्था है। यह वह अवस्था है जो कि 'अमृत की योनि में गर्भ बन कर' रहने से प्राप्त होती है। आचार्य के गर्भ में तो ब्रह्मचारी रहता ही है; परन्तु जब वह तीसरी रात्रि तक भी गर्भ में रहता है, यही अमृतयोनि में गर्भ है, तो वह आदित्य व इन्द्र बनकर निकलता है। इन्द्र शब्द सूर्य का भी वाचक है। या यूं कहिये कि तब वह इन्द्र अर्थात् आत्मा बनकर निकलता है। आत्मप्राप्ति (दूसरी तरफ, ब्रह्मप्राप्ति) ब्रह्मचर्य की चरम सीमा है। इस आत्मा व इन्द्र का अनात्म व असुर के साथ सहज विरोध है। जैसे प्रकाश आ जाने पर अँधेरा नहीं ठहर सकता वैसे आत्मोदय हो जाने पर कोई असुर नहीं ठहर सकता। संसार में असुरत्व को नष्ट कर देने का एक यही अमोघ उपाय है। भगवद्-गीता में कृष्ण भगवान् ने शत्रुविजय का यही उपाय बताया है।

यह इन्द्रत्व ब्रह्मचारी की तीसरी अवस्था है। इसी सूक्त के सोलहवें मन्त्र में इन अवस्थाओं का क्रम बहुत स्पष्ट रूप से वर्णित है। 'आचार्य और ब्रह्मचारी' इस पहले कर्म को हम जुदा कर लें तो उस मन्त्र में तथा इस मन्त्र में एक ही क्रम वर्णित है। इस क्रम को निम्न कोष्ठक द्वारा स्पष्ट समझ लीजिये—

१. प्रजापति	वसु	स्थूल भौतिक	**शारीरिक ब्रह्मचर्य**
२. विराट्	रुद्र	सूक्ष्म आन्तरिक	**मानसिक ब्रह्मचर्य**
३. इन्द्र	आदित्य	दिव्य आत्मिक	**आत्मिक ब्रह्मचर्य**

कोई ब्रह्मचारी जिस दर्जे का ब्रह्मचर्य करके ब्रह्मचारी बन संसार में आता है वह उसी दर्जे का कार्य संसार में कर सकता है। वह उतना ही प्रभाव संसार पर डालता है, वह उसी दर्जे के ज्ञान (ब्रह्म), उसी दर्जे के कर्म (अपः) और उसी दर्जे के लोकों (मनुष्यों या लोकों) को जगत् में प्रकट करता है। यदि वह पहले या निचले दर्जे का ब्रह्मचारी है तो वह प्रजापति अवस्था को प्राप्त करता है। उसमें इससे आगे जाने की सामर्थ्य नहीं होती अतः वह स्थूल ब्रह्मचर्य को अच्छी तरह प्राप्त करके अपना ब्रह्मचर्य पूर्ण करता है और संसार में एक उत्तम गृहस्थी बनता है, जगत् के लिये स्थूल ज्ञान, कर्म और लोक को प्रकट करता है पर जिसमें सामर्थ्य अधिक होती है वह और देर तक आचार्य-गर्भ में रहता है। वह गुरुकुल में और अधिक कठोर तपस्या करता हुआ स्थूल जगत् पर विजय प्राप्त करके आन्तरिक (मानसिक) ब्रह्मचर्य की अति कठिन साधना करता हुआ परमेष्ठी 'विराट्' अवस्था को प्राप्त करता है। यह 'विशेषण राजमान' अवस्था है अर्थात् वह ब्रह्मचारी विशेषतः चमकता हुआ संसार में आता है अतः उस अवस्था का नाम विराट् है। वह प्रजापति के ऊपर की अवस्था है, और अपेक्षया परम में स्थित होनेवाली अवस्था है। अतः उसे परमेष्ठी यह विशेषण दिया गया है। 'परमेष्ठिन्' एक बीच की अवस्था भी मानी जा सकती है। अस्तु। इस विराट् पद को प्राप्त ब्रह्मचारी जब जगत् में आता है तो वह संसार में उत्कृष्टतर और सूक्ष्मतर ज्ञान, कर्म और लोक का प्रकाश करता है। उसकी विशेषता यह होती है कि स्थूल भौतिक प्रजा उत्पन्न करने की अपेक्षा संसार में ज्ञान की प्रजा को वह प्रादुर्भूत करता है, नये सत्य का अविष्कार करता है, नयी ज्ञानधारा को बहा देता है, और उसी के अनुकूल कर्म-प्रवाह चला देता है, मानो एक नया लोक पैदा कर देता है। परन्तु कोई-कोई विरला ब्रह्मचारी ऐसा भी होता है जो इससे भी आगे बढ़ता है। परमेश्वर की कृपा से उसमें ऐसा ज्ञान होता है कि वह इस से भी आगे ब्रह्मचर्य करना चाहता है, ऐसी शक्ति होती है कि वह इससे भी आगे ब्रह्मचर्य को कर सकता है। वह सूक्ष्म जगत् पर भी आधिपत्य प्राप्त करके आत्मिक जगत् में विहार करने लगता है। उस के लिए सांसारिक

प्रलोभन तो बिल्कुल तुच्छ हो जाते है, परन्तु आन्तरिक दिव्य प्रलोभन भी उसे फँसा नहीं सकते। यह जितनी कठोर साधना है, उतनी ही महिमाशालिनी है। उस समय उसका आचार्यधीन ब्रह्मचर्य व गुरुकुलवास उसके लिये 'अमृतस्य योनि' अर्थात् 'अमृत का घर या अमरता की योनि हो जाता है। उस से निकला ब्रह्मचारी अमर बन कर निकलता है, इन्द्र बनकर निकलता है, असुरसंहारक इन्द्र (इतां शत्रूणां दारयिता) बन कर निकलता है। धन्य-धन्य है वह अन्तिम गुरुकुल-वास, बलिहारी जाऊँ उस अमृतयोनि माता की, जिस से कि संसार के लिये इन्द्र-ब्रह्मचारी जन्मता है। क्योंकि यह इन्द्र' ही है, आत्मिक शक्ति का पुञ्जभूत इन्द्र ही हैं जिसमें जगत् को त्रस्त करने वाले असुरों का संहार करने की वास्तविक और अमोघ शक्ति होती है।

हे संसार के दुर्बल पूरुषो! स्थूल ब्रह्मचर्य का भी पालन करने में अपने को असमर्थ पानेवाले भाइयों! क्या तुम्हें आज भी महान् ब्रह्मचर्य की आवश्यकता नहीं अनुभव होती? क्या असुर संहारक इस इन्द्र ब्रह्मचारी का अद्भूत आदर्श तुम्हारे अन्दर ब्रह्मचर्य के लिये अमित शक्ति और सामर्थ्य का संचार नहीं करता? नहीं, मैं तुम से क्यों पूछूँ? बाल ब्रह्मचारी ऋषि दयानन्द की कृपा से अब तो इस देश में फिर से गुरुकुल प्रणाली के पुनरूद्धार का कार्य प्रारंम्भ हो चुका है। अतः मैं तो अब गुरुकुलों से ही पूछता हूँ कि क्या कहीं किसी गुरुकुल माता के गर्भ में कोई इन्द्र तैयार हो रहा है? किसी आचार्य की शक्ति द्वारा किसी सावित्री माता के गर्भ से कोई इन्द्र प्रादुर्भूत होनेवाला है? क्यां हमने अपने गुरुकुलों में ऐसा परिस्थिति या पैदा की हैं जिन से कि 'इन्द्र' जन्म ग्रहण कर सके? संसार को तो आज असुरसंहारक इन्द्र की जरुरत है। न केवल असुरत्व से पीड़ित यह भारत देश किन्तु राक्षसता का शिकार हुआ-हुआ यह सारा संसार ही आज असुरसंहारक के आने की प्रतीक्षा कर रहा है। पर यह इन्द्र ब्रह्मचर्य से, विशुद्ध और उच्च ब्रह्मचर्य से ही जनम सकता है।

[८]

आचार्य के घड़े हुए द्यावापृथिवी

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मचारी** ॥ छन्दः—**पुरोऽतिजागता विराड् जगती** ॥

आचार्यस्ततक्ष नभसी उभे इमे उर्वी गम्भीरे पृथिवीं दिवं च।
ते रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति॥

—अथर्व० ११।५।८

मन्त्रार्थ–आचार्यः=आचार्य **इमे उभे नभसी**=इन दोनों लोकों को अर्थात् **उर्वी**=बहुत विस्तृत **गम्भीरे**=और बहुत गहरे **पृथिवीं दिवं च**=पृथिवी और द्युलोक को **ततक्ष**=घड़ देता है। **ते**=उन [घड़े हुए द्यावापृथिवी] की **ब्रह्मचारी**=ब्रह्मचारी **तपसा**=तपस्या द्वारा **रक्षति**=रक्षा करता है। **तस्मिन्**=उस ब्रह्मचारी में **देवाः**=सब देवता **सम्मनसः**=एकमन, अनुकूल **भवन्ति**=होते हैं।

पहले मन्त्र में ही कहा है कि ब्रह्मचारी द्यावापृथिवी को धारण किए हुए होता है। यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि ब्रह्मचारी सब द्यावापृथिवी का ज्ञान प्राप्त करता है। अब इस मंत्र में यह बताया गया है कि ब्रह्मचारी यह सब कुछ आचार्य की महान् सहायता द्वारा करता है। कैसा सुन्दर कहा है—

'आचार्य ब्रह्मचारी के लिए द्यावापृथिवी को घड़ता है और उन्हें ब्रह्मचारी अपनी तपस्या द्वारा रक्षित रखता है।'

तक्षण का अर्थ है घड़ना, बनाना, तक्षक का अर्थ होता है घड़ने वाला, तरखान, बढ़ई। क्या आप समझे कि इन विस्तृत, और गहन द्यावापृथिवी को आचार्य कैसे तक्षण करता है, घड़ता है?

निस्संदेह यह पृथिवी और द्यौ, यह भौतिक जगत् और अभौतिक जगत् यह जड़ जगत् और चेतन जगत् बहुत-बहुत विस्तृत हैं और बहुत गहन और गम्भीर हैं मनुष्य यदि अपने तौर

पर ही इनका ज्ञान प्राप्त करना चाहे तो सैकड़ों जन्मों में भी इनका पार नहीं पा सकता। इन दोनों ही प्रकार के जगत् का इतना विस्तार है और इतनी गहराई है कि मनुष्य इनका ज्ञान जितना प्राप्त करने का यत्न करता है उतना ही हैरान होता जाता है और उतना अपनी अल्पज्ञता से परिचित होता जाता है तो फिर द्यावापृथिवी को सम्पूर्णता में कैसे जान सकता है? इस भारी दृश्य और उस दुर्गम अदृश्य जगत् के बारें में सब कोई कैसे ज्ञान पा सकता है? परन्तु इतना होते हुए भी निराशा की कोई बात नहीं है। आखिर ये दोनों ही संसार किन्हीं नियमों से बंधे हुए हैं, किन्हीं अटल व्यवस्थाओं के आधीन हैं, किन्हीं निश्चित तत्त्वों से अनुस्यूत हुए-हुए हैं, जिससे उन नियमों, उन व्यवस्थाओं, उन तत्त्वों के जान लेने से उससे सम्बन्ध रखनेवाला शेष सब कुछ स्वयमेव जान जाता है। आचार्य ब्रह्मचारी को ये ही नियम, ये व्यवस्था व तत्त्व दिखा देता है जिससे ये द्यावापृथिवी आसानी से समझे जाते हैं। इसे ही यूँ कहा है कि आचार्य द्यावापृथिवी को ब्रह्मचारी के लिए घड़ देता है। जैसे घड़ देने से उस वस्तु का सुन्दर उपयोगी रूप निकल आता है वैसे ही आचार्य ब्रह्मचारी के लिए इस सब संसार को सुघड़, सुव्यवस्थित, किन्हीं सुन्दर नियमों द्वारा सुसासित रूप में दिखा देता है। इस गड़बड़ दिखाई देने वाले द्यावापृथिवी को आकार दे देता है। तब ब्रह्मचारी के लिए ये दोनों जगत् अनघड़, अथाह, जटिल, गहन, गड़बड़ या जंजाल भरे न रह कर घड़े हुए, सुरूप, व्यवस्थित, सुन्दर नियमों से सुन्दरतया सजे हुए, सुग्राह्य, सुज्ञेय हो जाते है। यह सब आचार्य की कृपा से होता है, आचार्य की शक्ति से होता है। इस में कुछ शक नहीं कि यदि आचार्य इन द्यौ और पृथिवी को ब्रह्मचारी के लिए घड़ न दे तो ब्रह्मचारी इन लोकों को कभी पकड़ न सके, उठा न सके, धारण न कर सके।

मानो आचार्य ब्रह्मचारी के लिए बिल्कुल नये द्यावापृथिवी घड़ देता है, बना देता है। क्योंकि वस्तुतः ही अज्ञानी को दीखने वाले द्यावापृथिवी में और ज्ञानी को दीखने वाले द्यावापृथिवी में आकाश पाताल का फर्क होता है। जब दृष्टि खुल ज़ाती है तो संसार का स्वरूप ही बदल जाता है। जब इसी अर्थ में कहा जाता

है कि आचार्य ब्रह्मचारी के लिए नये, सच्चे द्यावापृथिवी घड़ देता है।

इन घड़े हुए द्यावापृथिवीयों की ब्रह्मचारी तपस्या द्वारा रक्षा करता है। घड़ देना आचार्य का काम है, रक्षा करना ब्रह्मचारी का काम है। घड़ कर दी हुई चीज फिर बिगड़ जायेगी यदि ब्रह्मचारी उसकी तपस्या द्वारा लगातार रक्षा नहीं करता रहेगा। ज्ञान की रक्षा तप द्वारा ही हो सकती है। द्यावापृथिवी के सत्य नियमों व तत्त्वों का ज्ञान ब्रह्मचारी तप द्वारा रक्षित रखता है और फिर उसे शिष्यपरम्परा द्वारा आगे देता जाता है। तात्पर्य यह कि ब्रह्मचारी तपस्या द्वारा द्यावापृथिवी के इस ज्ञान की रक्षा करता हुआ आचार्य बनने का अधिकारी बनता है।

वैसे भी तो यह सब जगत् ब्रह्मचर्य की तपस्या द्वारा ही रक्षित है। ब्रह्मचर्य, संयम करना, कितना भी कष्ट होने पर विचलित न होना यह ही तो वह वस्तु है जिसके कारण अज्ञान, अविद्या हम पर काबू नहीं पा सकते। यदि जगत् में ब्रह्मचर्य, तपस्या, संयम न रहें तब तो यह सब संसार आसुरी शक्तियों द्वारा कब का नष्ट भ्रष्ट हो जाय। असल में ये देव-शक्तियां हैं देव हैं जो कि जगत् की, इस उभयविद्य जगत् की रक्षा कर रहे हैं। क्योंकि वे सब देव, दिव्य शक्तियाँ ब्रह्मचारी में अनुकूलमना होती हैं, एक हो जाती हैं, अतः एक शब्द में यूं कहा जाता है कि यह सब संसार ब्रह्मचर्य के तप द्वारा रक्षित है। अतएव इस मंत्र में कहा है कि आचार्य द्वारा घड़ कर दिये हुए इन द्यावापृथिवी की ब्रह्मचारी अपनी तपस्या द्वारा रक्षा करता है और (अथवा चूँकि) उस ब्रह्मचारी में सब देवता समानमना (एकमन) होते हैं—

ते र॑क्षति॒ तप॑सा ब्रह्मचा॒री तस्मि॑न् दे॒वाः सं॑म॑नसो भवन्ति॥

पाठकों को स्मरण होगा कि इस मंत्र का यह अन्तिम पाद पहले मंत्र में भी ज्यों का त्यों आ चुका है और तप का ब्रह्मचारी के साथ प्रायः प्रत्येक मंत्र में वर्णन आया है। सामान्य रूप से कहें तो इन दो अन्तिम पादों का तात्पर्य यह हुआ कि ब्रह्मचारी अपने तप द्वारा ही आचार्य से पाये ज्ञान की रक्षा करता है और वह जितना ज्ञान की रक्षा करता है उतना ही उसे देवताओं की

अनुकूलता प्राप्त होती है। बिना तप के तो ब्रह्मचारी ज्ञान को ग्रहण ही नहीं कर सकता, रक्षा करना तो दूर रहा। आचार्य चाहे कितनी अच्छी तरह द्यावापृथिवी को घड़ कर ब्रह्मचारी के सामने रखे, पर यदि ब्रह्मचारी में तप की शक्ति नहीं है तो वह उसे पकड़ नहीं सकेगा, उसे धारण नहीं कर सकेगा। तप ही ब्रह्मचारी की शक्ति है। और यदि उसमें तप है तो अपने शरीर में ही, अपने शरीर के त्रिलोकी में ही वह सम्पूर्ण बाह्य त्रिलोकी का पूर्ण ज्ञान पा लेगा उसे और कुछ भी करने की जरूरत नहीं है। सचमुच तपस्या की शक्ति से वह अपने त्रिविध शरीर के ही तत्वतः जान लेने से और धारण कर लेने से सब ब्रह्माण्ड को जान लेता और धारण कर लेता है और सब देवता उसमें एक हो जाते हैं।

आचार्य द्यावापृथिवी को ग्राह्य बना कर ब्रह्मचारी के लिए देता और ब्रह्मचारी अपनी तपस्या द्वारा उसे ग्रहण करता है। इस प्रकार ब्रह्मचारी सब देवों से युक्त हो जाता है।

[९]

ब्रह्मचारी की भिक्षा

ऋषि:—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मचारी ॥ छन्द:—बृहतीगर्भा त्रिष्टुप् ॥

इमां भूमिं पृथिवीं ब्रह्मचारी भिक्षामा जभार प्रथमो दिवं च।
ते कृत्वा समिधावुपास्ते तयोरार्पिता भुवनानि विश्वा ॥

—अथर्व० ११।५।९

मन्त्रार्थ—प्रथमः ब्रह्मचारी=प्रथम ब्रह्मचारी **इमा पृथिवीं भूमि**=उस विस्तुत भूमि को **दिवं च**=और द्यौ को **भिक्षां आजभार**=भिक्षा में ले आया है। अब वह **ते**=उन्हें **समिधौ कृत्वा**=[आचार्याग्नि में] समिधा बनाकर **उपास्ते**=उपासना करता है। **तयो:**=उन्हीं दो [लोकों] में **विश्वा भुवनानि**=सब भुवन **अर्पिता**=समाये हुए हैं।

ब्रह्मचारी भिक्षा पर रहता है। आचार्य तो भिक्षावृति पर होता ही है। श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज ने विशेषत: इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए सुन्दरतापूर्वक प्रतिपादन किया है कि आचार्य को वेतनभोगी नहीं किन्तु भिक्षावृति वाला होना चाहिये। भिक्षावृति का अर्थ है केवल परमेश्वर पर भरोसा करके रहना, परमेश्वर का दिया हुआ खाना, और अपने लिए नहीं खाना। आचार्य इसी वृति से रह सकता है। उसके लिये भिक्षाटन का कार्य बेशक ब्रह्मचारी करता है। ब्रह्मचारी अपने आचार्य के लिए आहरण की हुई सम्पूर्ण भिक्षा को लाकर आचार्य के चरणों में रख देता है और फिर आचार्य द्वारा दी हुई, यज्ञशिष्ट हुई-हुई, प्रसादरूप भिक्षांश से अपना शरीरपालन करता है।

ब्रह्मचारी का आचार्य से जुदा कुछ नहीं होता। ब्रह्मचारी जो कुछ भिक्षा पाता है वह सब आचार्य के लिए ही पाता है और आचार्य के लिए पाने में ही वह अपने लिए भी पा लेता है। और

आचार्य के लिए वह क्या नहीं पा सकता? उस आचार्य के लिए जो उसे अमृत ज्ञान देता है, उस आचार्य के लिए जो उसे अनमोल सचमुच अनमोल-ब्राह्मण ज्येष्ठ ब्रह्म देता है, उस आचार्य के लिए ब्रह्मचारी यदि भिक्षा में सारी विस्तृत पृथ्वी और सारा विस्तृत द्युलोक ले आता है तो क्या बड़ा काम करता है? जो प्रथम ब्रह्मचारी है, सर्व श्रेष्ठ ब्रह्मचारी है वह तो वस्तुतः ही इतनी बड़ी भिक्षा लाता है। जो जितना श्रेष्ठ (प्रथम) ब्रह्मचारी होता है; वह उतनी बड़ी भिक्षा प्राप्त करता है। या जितने बड़े (महान्) आचार्य का ब्रह्मचारी होता है वह उतनी ही अधिक (महान्) भिक्षा प्राप्त करता है। यह देखो, प्रथम ब्रह्मचारी सब पृथिवी और द्यौ को भिक्षा में ले आया है।

पर उस भिक्षा का ब्रहचारी क्या करता है? थोड़ा या बहुत जो भी कुछ ब्रह्मचारी को भिक्षा में मिलता है उसे वह समिधा बना लेना जानता है। वह जो कुछ पाता है उसे आचार्य रूपी अग्नि के लिए समिधा बना लेता है। अपने लिए जुदा वह कुछ नहीं रखता। आचार्याग्नि में समर्पित कर देने से ही उसे उसके योग्य भाग शुद्ध होकर स्वयंमेव मिल जाता है। अतः वह तो जो कुछ भिक्षा प्राप्त करता है उसे आचार्य के समर्पित कर देता है। इस द्यौ और पृथिवी को पाकर भी वह उसकी दो समिधा बनाकर उपासना करने लगता है। समिधा बनाकर उपासना करने का अर्थ है आचार्याग्नि में यज्ञ करना, आचार्य को समर्पित कर देना और इस बात की प्रतीक्षा करना कि आचार्य उन्हें प्रदीप्त करके, प्रतप्त करके व सूक्ष्म करके दे देगा। यही आचार्याग्नि में हवन करने या उपासना करने का मतलब है। इसी अर्थ में गत मन्त्र में तक्षण करने की बात कही गई थी। ब्रह्मचारी बिना घड़े हुए द्यावापृथिवी भिक्षा में प्राप्त करता है। और उन्हें आचार्य-चरणों में उपस्थित कर देता है। आचार्य अपनी अग्नि से उन्हें तक्षण करके, घड़ करके, फिर ब्रह्मचारी के सुपुर्द कर देता है।

इस प्रकार ब्रह्मचारी जो कुछ प्राप्त करता है उसे भोग के लिये नहीं, किन्तु यज्ञ के लिये ही प्राप्त करता है। उसे यदि भिक्षा में

सारा संसार मिल जाता है तो वह उससे भी अपना कुछ भी भोग साधन नहीं करता, किन्तु उसे यज्ञ-समर्पित कर देता है और आचार्य की कृपा से उसे यज्ञिय बना लेता है। भिक्षा का यही उद्देश्य होता है।

यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं कि द्यावापृथिवी में सब संसार आ जाता है। तीसरा लोक भी इन्हीं के बीच में समाया हुआ है। अतः द्यौ पृथिवी कहने में सब लोक, सब भुवन, सब जगत्, सब कुछ कहा जाता है।

जरा देखो! ब्रह्मचारी के हाथ में पहुँच कर ये दोनों लोक, ये द्यौ और पृथिवी, दो पवित्र समिधायें बने हुए हैं और आचार्य की कृपा से यज्ञिय और यज्ञमय हो रहे हैं। उस अग्नि द्वारा संप्रदीप्त हो प्रकाशित हो रहे हैं, संतप्त हो शुद्ध हो रहे हैं और सन्तुष्ट हो कल्याणकारी हो रहे हैं। हे मनुष्यों! तुम इसमें संशय मत करो कि भिक्षार्थ आये हुए ब्रह्मचारी को सच्चे ब्रह्मचारी को-तुम जो भी कुछ दोगे वह सब यज्ञ-समर्पित हो जायगा और पवित्र होकर सब के कल्याण का कारण बनेगा। यदि तुम्हारे हाथ में इस पृथिवी और द्यौ का राज्य है तो तुम इसे भी निस्संकोच किसी 'प्रथम' ब्रह्मचारी को भिक्षा में दे दो, इससे और कुछ न होगा, केवल ये किसी महान् ज्ञानाग्नि द्वारा संप्रदीप्त व संतप्त और शुद्ध होकर अब से असंख्यों गुणा लाभकारी बनकर प्राणिमात्र का कल्याण करनेवाले बन जायेंगे। ब्रह्मचारी को भिक्षा देने का यही फल होता है। सच्चे ब्रह्मचारी को भिक्षा देने का ऐसा ही महान् फल होना चाहिए।

[१०]

दो ख़ज़ाने

ऋषि:—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मचारी ॥ छन्द:—भुरिक् त्रिष्टुप् ॥

अर्वागन्यः परो अन्यो दिवस्पृष्ठाद् गुहा निधी निहितौ ब्राह्मणस्य।
तौ रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तत् केवलं कृणुते ब्रह्म विद्वान्॥

—अथर्व० ११।५।१०

मन्त्रार्थ—अन्यः=एक **अर्वाक्**=उरे है और **अन्यः**=एक **दिवस्पृष्ठात् परः**=द्युलोक के पृष्ठ से परे है। ये दो **ब्राह्मणस्य**=ब्रह्मज्ञानी के **निधी**=खजाने **गुहा निहितो**=गुहा में छिपे रखे हैं। **तौ**=उन [खजानों] की **ब्रह्मचारी**=ब्रह्मचारी **तपसा**=तप द्वारा **रक्षति**=रक्षा करता है और **ब्रह्म विद्वान्**=ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाला **तत्**= उस [ब्रह्मज्ञान रूप खजाने] को **केवलम्**=केवल, पूरी तरह **कृणुते**=करता है उपयोग करता है।

पिछले दो मंत्रों में कहा है कि ब्रह्मचारी आचार्य द्वारा घड़कर दिये या आचार्य-समर्पित भिक्षा से मिले द्यौ और पृथिवी को अपनी तपस्या की शक्ति से रक्षा करता हैं तप से जिन द्यौ और पृथिवी की रक्षा होती है वे द्यावापृथिवी ज्ञानरूप होते हैं और आन्तरिक होते हैं, यह बात इस मंत्र में स्पष्ट की गई है। और चूँकि ज्ञान ही सब से ऊँची सम्पत्ति है, सब से ऊँचा ऐश्वर्य है, अत: इन दो प्रकार के ज्ञानों, विद्याओं को इस मन्त्र में दो खजानों के रूप में वर्णन किया गया है और कहा गया है कि इन दो खजानों की ब्रह्मचारी ही अपने तपोबल से रक्षा करता है।

ये ख़जाने कौन से हैं? एक तो यह इधर का, नीचे का, द्युलोक से उरला है और दूसरा द्युलोक के पृष्ठ से उधर का, ऊपर का, परला है। एक तो वह ज्ञान है जो कि हमें यहाँ से द्युलोक की सतह तक का ज्ञान कराता है, दिखाता है और दूसरा वह ज्ञान है

जो कि द्युलोक की सतह से परे का, द्युलोक से भी परे का ज्ञान कराता है। इन्हें परा और अपरा विद्या भी कह सकते हैं और इन्हें ओंकार के तीन पादों की विद्या तथा तुरीयपाद की विद्या भी कह सकते हैं। इन्हें सब अनित्य विनाशी जगत् की विद्या तथा अविनाशी नित्य तत्त्व की विद्या भी कह सकते हैं। शायद इन्हें ही यजुर्वेद के अन्तिम अध्याय (ईशोपनिषद्) में विद्या और अविद्या नाम से भी पुकारा गया है। मतलब यह कि ब्रह्म का पूर्ण रूप इन दोनों से ही मिलकर पूरा होता है, इनमें से किसी एक से नहीं। अतः पूर्ण ब्रह्मविद्या को दो खजानों के रूप में यहाँ कहा गया है, खजाने के रूप में नहीं।

इन में से जो पहली विद्या है उससे हम कुछ अधिक परिचित हैं। दुनिया की सब वस्तुओं का सब ज्ञान चारों वेदों का बाहरी ज्ञान भी इसी में आता है। यद्यपि इसके भी ऐश्वर्य (खजाने) रूप को हम नहीं पहचानते। दूसरी विद्या वह है 'यया तदक्षरमधिगम्यते' जिससे उस अविनाशी अक्षर शान्त शुद्ध तत्त्व का बोध होता है। उसके विषय में हम बहुत ही थोड़ा जानते हैं और उसके ऐश्वर्य को तो हम बिल्कुल ही नहीं जानते। परन्तु जो ब्रह्मज्ञानी है, सचमुच ब्रह्मवित् है, ब्राह्मण है उसको ये दोनों ही ऐश्वर्य, ये दोनों ही खजाने प्राप्त होते हैं। वह जिस खजाने को चाहता है, उपयोग करता है। ये खजाने कहीं बाहर नहीं रखे हैं जो हर किसी को मिल जाय। ये अन्दर छिपे रहते हैं, गुहानिहित हैं, ब्राह्मण के अन्दर, हृदय की गुफा में सुरक्षित हैं। अतएव ये ज्ञानरूप हैं। अन्दर पहुँच करके तो जो चाहें, वे इन्हें पा सकते हैं। संसार का कोई मनुष्य नहीं जो अन्दर प्रविष्ट होकर, अपनी हृदय-गुफा में घुस कर परमेश्वर की कृपा से इन्हें न पा सके। पर अन्दर घुसना ही अत्यन्त दुष्कर है। ब्रह्मनिष्ठ ही अन्दर पहुँच पाता है। अतएव इन्हें 'ब्राह्मणस्य निधी' कहा है। तो ये हैं दो खजाने जो कि ब्रह्मनिष्ठ पुरुष के उपयोग के लिए सदा विद्यमान हैं, एक वह है जो कि पृथिवी से 'दिवस्पृष्ठ' तक के या देह से बुद्धि-प्रकाश तक के सब ऐश्वर्यों को रखता है और दूसरा वह जो कि दिवस्पृष्ठ से परे नित्य और अविनाशी-दिव्य तत्त्व व चित्तत्त्व के महान् ऐश्वर्य को रखता है।

ये दोनों खजाने ब्रह्मचारी के कारण ही संसार में रक्षित हैं। जैसे सांसारिक खजाने की रक्षा सिपाही अपनी बन्दूक के बल से करता है वैसे इन दो आन्तरिक ज्ञानमय दिव्य खजानों की रक्षा ब्रह्मचारी अपने तपोबल से करता है। यदि संसार में ब्रह्मचर्य न रहे, संयम और तपस्या न रहे तो दोनों खजाने लुप्त हो जाय। संसार केवल भोगग्रस्त, असंयमी और बहिर्मुख होकर इन ऐश्वर्यों से सर्वथा शून्य हो जाय परन्तु जब तक तपोधन ब्रह्मचारी जन्मते रहते हैं तब तक इस ईश्वरीय सम्पत्ति से संसार को कौन वंचित कर सकता है? ब्रह्मचर्य की इस महान् महिमा को देखो। यह सब संसार किस प्रकार ब्रह्मचर्य से अनुप्राणित है, इसे अनुभव करो।

जहाँ ब्रह्मचर्य का तप है वहां ब्रह्मनिष्ठा है और जहाँ ब्रह्मनिष्ठा है वहाँ ब्रह्मज्ञान का ऐश्वर्य है। पर ब्रह्मज्ञान के ऐश्वर्य का, खजाने का उपयोग वही कर सकता है जो 'ब्रह्म विद्वान्' है, जिसने ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है। जो जितना ब्रह्मचर्य करेगा, तप करेगा, अन्तर्मुख होगा, अन्दर के उस कठिन मार्ग को तय करेगा उतना ही उसे अन्दर के खजाने का लाभ मिलेगा। परन्तु इस और खजाने का पूर्ण केवल-उपयोग तो वहीं कर सकेगा जो ब्रह्म को साक्षात् कर लेगा, पा लेगा।

मन्त्र के इस अन्तिम भाग में 'तत्' और 'ब्रह्म' को एकवचन में रख कर वेद ने यह भी प्रकट कर दिया कि तत्त्वतः वह अन्दर का खजाना एक हैं, जैसे ब्रह्म एक है, उसका द्विविध रूप तो हमें समझाने के लिए दिखाया गया है।

[११]

दो अग्नियों के बीच में

ऋषि:—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मचारी ॥ छन्द:—जगती ॥

अर्वागन्य इतो अन्यः पृथिव्याः अग्नी समेतो नभसी अन्तरेमे।
तयोः श्रयन्ते रश्मयोऽधि दृढास्ताना तिष्ठति तपसा ब्रह्मचारी ॥

—अथर्व० ११।५।११

मन्त्रार्थ—अन्यः=एक **अर्वाक**=इधर की और **अन्यः**=एक **इतः पृथिव्याः [परः]**=इस पृथिवी से परे की **अग्नी**=ये दो अग्नियां **इमे नभसी अन्तरा**=इन दोनों लोकों [द्यौ और पृथिवी] के बीच में **समेतः**=आती हैं, इकट्ठी होती हैं। **तयोः**=उनकी **दृढा रश्मयः**=जबरदस्त किरणें **अधिश्रयन्ते**=विरोधी रूप में मिलती हैं, परस्पर टकराती हैं। **तान्**=उन किरणों पर **ब्रह्मचारी**=ब्रह्मचारी **तपसा**=तप द्वारा **आतिष्ठति**=आस्थित होता है, ठहरता है।

ब्रह्मचारी की तपस्या का वर्णन प्रायः हरेक मन्त्र में आया है। उस तपस्या का स्वरूप क्या है, यह बात इस मन्त्र में चित्रित कर दी गई है। योग दर्शन के भाष्य में व्यास जी ने तप का लक्षण किया है—

द्वन्द्वसहनं तपः

साधारणतया दुःख व कष्ट को सह लेना तप कहलाता है। सन्मार्ग पर चलते हुए जो सामने क्लेश आदि आवें, उन्हें प्रसन्नता से सहकर परास्त कर देना यही तप का मतलब होता है। परन्तु कष्ट सहने का यदि हम विश्लेषन करें तो वह अन्त में द्वन्द्वसहन ही बन जायगा। अतः गहरे और पूरे अर्थ में तप का अर्थ द्वन्द्व सहना ही होता है। भूख-प्यास, गर्मी, सर्दी, सुख, दुःख जय, पराजय आदि द्वन्द्व मनुष्य पर लगातार हमला करते रहते हैं। मनुष्य प्रतिक्षण ही द्वन्द्वों से आक्रान्त रहता है यदि वह इनको सह लेता

है, इनके वशीभूत नहीं हो जाता तो वह तप करता है। तप का ही तात्पर्य है।

इस दृष्टि से देखें तो ब्रह्मचारी को प्रतिक्षण तप करना होता है। द्वन्द्वों में सम रहने के इस (तप रूपी) कर्म को दूसरे शब्दों में 'धर्म' नाम से भी कह सकते हैं। धारणात् धर्मः। धर्म वह है जो हमें धारे रखता है, जो हमें दायें या बाँयें गिरने नहीं देता किन्तु धारे रखता है। दाँयें या बाँयें गिरना द्वन्द्व के वशीभूत होना है। किन्तु उनके वशीभूत न होकर उन्हें सह कर सीधे रहना या धृत रहना ही तप व धर्म है। जैसे एक रस्सी पर चलना मुश्किल है; रस्सी पर से हम न इधर गिरें न उधर, सीधे आगे रस्सी पर चलते जाय यह कितना कठिन है, तो भी अभ्यास से नट लोग अपने को ऐसा साध लेते हैं, अपने को ऐसा समतोल रखने योग्य बना लेते हैं कि वे रस्सी पर चलते हैं। वैसे ही द्वन्द्वों पर समतोल होकर चलना बहुत ही अधिक कठिन हैं, पर फिर भी तप का अभ्यास करते-करते तपस्वी लोग समतोलता प्राप्त कर लेते हैं, ब्रह्मचर्य के तप को साध लेते है। उपनिषद् में तो धर्म के मार्ग पर चलने को छुरे की तेज धार पर चलने की उपमा ही गई हैं। छुरा तो नीचे से भी चुभता है। अतः छुरे पर समतोल होकर चलना रस्सी पर चलने की अपेक्षा भी महा कठिन है। परन्तु यहाँ वेद में इसे अग्नि की रश्मियों पर (आग की रस्सियों पर) चलना कहा गया है। रश्मि का अर्थ रस्सी भी होता है और किरण भी। जरा पाठक इस वेदवचन के सौन्दर्य को अनुभव करें और इसका रस लेवें।

इस मन्त्र में कहा है कि दो अग्नियां हैं, वे मध्य के लोक में इकट्ठी होती हैं, उनकी रश्मियां (रश्मियां या किरणें) जहाँ परस्पर मिलती हैं उन पर ब्रह्मचारी तप द्वारा ठहरता है। एक इधर पृथ्वी की अग्नि है, दूसरी इस पृथ्वी से परे के लोक अर्थात् द्युलोक की अग्नि हैं। ये दोनों अग्नियां द्यौ और पृथ्वी के बीच में (अन्तरिक्ष में) मिलती हैं, इकट्ठी होती हैं। उस अन्तरिक्ष में इन दोनों अग्नियों की किरणें परस्पर टकराती हैं, दृढ़ता के साथ खींच-तान करती हैं, किन्तु ब्रह्मचारी विचलित नहीं होता। न वह पार्थिव अग्नि की किरण के वशीभूत होता है, और न द्युलोक की अग्नि की किरण

के वशीभूत होता है। किन्तु दोनों पर समतोल होकर खड़ा रहता है, इन दोनों का लाभ उठाता है। ये दोनों ही किरणें बड़ी जबरदस्त हैं, इनका टकराना और भी जबरदस्त है। पर ये तपस्वी ब्रह्मचारी को गिरा नहीं सकतीं। अपनी टक्कर से उसे कुचल नहीं सकतीं। ब्रह्मचारी प्रतिक्षण इनके ऊपर अपनी समतोलता कायम रखता है।

पाठक देखेंगे कि यहाँ केवल रस्सी पर चलना नहीं है, चाहे यह आग की रस्सी क्यों न हो। ऐसी रस्सियों बल्कि किरणों पर चलना है जो कि लगातार बदल रही हैं, उलट-पुलट हो रही हैं। पर ब्रह्मचारी ऐसी प्रत्येक उलट-पुलट पर भी अपने को लगातार स्थिर रखता है, सदा इन किरणों पर समतोल ठहरा रहता है। यही ब्रह्मचारी का तप है।

आशा है पाठक समझ गये होंगे कि ये पार्थिव और दिव्य अग्नि क्या हैं? यह एक प्रकार का द्वन्द्व है। एक महान् द्वन्द्व है। एक तरह से इस द्वन्द्व में शेष सब द्वन्द्व आ जाते हैं। देखिये—

पार्थिव अग्नि	दिव्य अग्नि
पृथिवी	सूर्य
स्थूल शरीर	बुद्धि
नाभि	सहस्रार कमल
जठराग्नि	मस्तिष्क की ज्ञानाग्नि
भोग	ज्ञान
पुष्टि	तेज
स्थूलता	सूक्ष्मता
विस्तार	गहराई
छाया	प्रकाश
रात्रि	दिन
विश्राम	श्रम
हलचल	शान्ति
दृढ़ता	नम्रता

इत्यादि रूप से इस द्वन्द्व का बहुत विस्तार प्रकट किया जा

सकता है। ब्रह्मचारी लगातार इन द्वन्द्वों में सम रहता है, इन को जीत कर मध्यमार्ग पर चलता जाता है, अपनी समतोलता (Balance) को सदा ठीक रखता है। उदाहरणार्थ, न वह बहुत खाता है, न कम, किन्तु शरीर के लिये जितना आवश्यक है ठीक उतना ही खाता है, बहुत खुलकर खाना आसान है, बिल्कुल उपवास कर लेना भी आसान है, किन्तु ठीक-ठीक यथोचित (न कम न ज्यादह) खाना कठिन है। पर इसी में सच्ची तपस्या है। इसी तरह शरीर और मस्तिष्क की उन्नति में ठीक समता, हलचल और शान्ति में ठीक समता, स्थूल और सूक्ष्म में, विस्तार और गहराई में, विश्राम और परिश्रम में, दृढ़ता और नम्रता में ठीक-ठीक समता आदि के विषय में तपस्या का रूप समझ लेना चाहिये। पाठक देखेंगे कि किन्हीं स्थिर नियमों से अपने को बाँध लेना ब्रह्मचर्य की तपस्या के लिये पर्याप्त नहीं है। ऐसा करने वाले मनुष्य दूर तक उन्नति नहीं क़र सकेंगे। द्वन्द्वसहन रूपी तप करने वाले ब्रह्मचारी को तो धीमें-धीमें वह ज्ञान मिल जाता है जिससे कि वह अपने कर्तव्याकर्तव्य को, धर्म को प्रतिक्षण जानता जाता है और उसी के अनुसार अपने को समतुलित करता रहता है, तप करता रहता है। यह बड़ा कठिन काम है, पर ज्ञान द्वारा और अभ्यास द्वारा यह हो जाता है द्यौ और पृथिवी की ये दोनों अग्नियां, विरोधी रूप में दोनों अपनी-अपनी तरफ वेग से खींचती हुई ये अग्नियां, हमेशा ह़ी ब्रह्मचारी के सामने उपस्थित होती रहती हैं क्योंकि जीवन के प्रत्येक ही क्षेत्र में द्यौ और पृथिवी की अग्नियां नानारूप में विद्यमान रहती हैं पर ब्रह्मचारी इन में सदा सम रहता है। वह हमेशा ही मध्य में, अन्तरिक्ष में रहता है। वह सदा अपने को समतोल करके अन्तरिक्ष में ही रखता है, न भूमि की तरफ अपने को गिरने देता है, न दिव की तरफ। बस इसी अर्थ में इस मंत्र में कहा है कि ब्रह्मचारी किरणों पर ठहरता है, आस्थित होता है, समतोल होकर इन पर सवारी करता है। यही ब्रह्मचारी का दो अग्नियों के बीच में रहकर निरन्तर तप करना है। यही तप का वास्तविक स्वरूप है।

[१२]

ऊर्ध्वरेता

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मचारी** ॥ छन्दः—**शाक्वरगर्भा चतुष्पदा विराडतिजगती** ॥

**अभिक्रन्दन्स्तनयन्नरुणः शितिङ्गो बृहच्छेपोऽनु भूमौ जभार।
ब्रह्मचारी सिञ्चति सानौ रेतः पृथिव्यां तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः ॥** —अथर्व० ११।५।१२

मन्त्रार्थ—अभिक्रन्दन्=गरजता हुआ, नाद करता हुआ **स्तनयन्**=कड़कता हुआ, ध्वनि करता हुआ **अरुणः**=आरोचमान और **शितिङ्गः**=श्यामल **ब्रह्मचारी**=आधिदैविक, आधिभौतिक समष्टि तथा व्यष्टि–जगत् रूपी ब्रह्मचारी **भूमौ**=भूमि, पार्थिव प्राणी व स्थूल शरीर पर **बृहत् शेपः**=बहुत उत्पादक शक्तिवाला, बहुत प्रभावशाली, बहुत आभ्यन्तर शक्तिवाला होकर **अनु जभार**=कृपा करता है तो **पृथिव्याम्**=इस पृथ्वी पर **सानौ**=पहाड़ों, उन्नत पुरुषों व उन्नत प्राण केन्द्रों में **रेतः सिञ्चति**=जल, ज्ञान व वीर्य की वृष्टि करता है। **तेन**=उस वृष्टि से **चतस्रः प्रदिशः**=चारों दिशायें, सब प्राणी, शरीर के सारे अणु **जीवन्ति**=जीवन प्राप्त करते हैं।

ऊर्ध्वरेता उन लोगों को कहते हैं जो रेतस् (वीर्य) को ऊर्ध्व, ऊपर ले जाते हैं। यह उत्तम प्रकार के ब्रह्मचारियों का नाम है। उत्तम गृहस्थी लोगों को अधोरेता कहा जा सकता है क्योंकि वे वीर्य को नीचे ले जाकर ऋतुगमन के नियम पालन करते हुए गर्भाधान करते हैं, संतानोत्पत्ति करते हैं। जो संतानोत्पत्ति की शुद्ध इच्छा से भी वीर्य को अधोगामी नहीं करते, किन्तु पाशविक भोगवासना की तृप्ति के लिये नाना प्रकार से वीर्य का नाश करते हैं, उन्हें तो अधोरेता भी नहीं कहा जा सकता। उनके लिये कुछ और नाम ढूँढ़ना चाहिये। उन्हें 'भ्रष्टरेता' कह दीजिये। पर उनका

तो यहां कुछ जिक्र ही नहीं है।

वीर्य को ऊर्ध्वगामी किये बिना ब्रह्मचर्य नहीं सध सकता और वीर्य को ऊर्ध्वगामी करने के लिये तपस्या ही साधन है। ब्रह्मचारी की जिस तपस्या का, पृथ्वी और द्यौ की दो अग्नियों के बीच में की जाने वाली जिस तपस्या का वर्णन गत मन्त्र में किया गया है, उसके अनुसार ब्रह्मचारी न केवल अपने वैयक्तिक रूप में किन्तु जगत् के आधिदैविक रूप में भी किस प्रकार से ऊर्ध्वरिता हो जाता है, इस बात का वर्णन पाठक इस मन्त्र में पायेंगे।

इस विशाल जगत् में अर्थात् आधिदैविक रूप में ऊर्ध्वरिता होने से किस प्रकार सब जगत् का जीवन धारण हो रहा है, यदि पाठक इसे देख लें तो फिर उन्हें इसके साथ-साथ आध्यात्मिक और आधिभौतिक रूप में अथवा व्यष्टि या समष्टि प्राणिजगत् में भी ऊर्ध्वरिता होने के अभिप्राय और प्रभाव को समझते जाना आसान हो जायगा।

इस जगत् का सिर द्युलोक है, हृदय अन्तरिक्ष और नीचे का स्थूल भाग पृथ्वी है। यह जगत् रूपी ब्रह्मचारी अपने आप को द्यौ और पृथ्वी की अग्नियों के बीच में सम रखने का तप करता है अतएव इस जगत् में जीवन चलता रहता है। स्थूल दृष्टि से इस जगत् का जीवन-रस, वीर्य जल (पानी) है। बाहर का आपः (पानी) देवता ही अन्दर रेतस् (वीर्य) बना है यह उपनिषदों और वेद में बहुत स्पष्ट कहा गया है। सो यह जल रूपी वीर्य तपस्या करने से ऊपर उठता है। जितना ताप (उष्णता) अधिक होता है उतना ही यह अधिक ऊपर उठता है। यह तपस्या व समता इस जगत् में स्पष्ट देखें जा सकते हैं। वह जल द्युलोक की अग्नि (सूर्य) के आकर्षण के कारण सब ऊपर सूर्य में जाकर शोषित नहीं हो जाता है और न नीचे पृथ्वी की अग्नि के आकर्षण के कारण नीचे ही पड़ा रहता है किन्तु बीच अन्तरिक्ष में स्थित हो जाता है। इसी कारण अन्तरिक्ष का महान् समुद्र बना हुआ है, बल्कि अन्तरिक्ष बना हुआ है। जैसे मनुष्य अपने हृदय में अपना जीवन-केन्द्र रखता है, वैसे ही इस जगत् का जीवन-केन्द्र भी अन्तरिक्ष में है वहीं

ब्रह्मचारी का आत्मा रहता है। वहीं से यह आत्मा द्यौ और पृथ्वी के साथ ठीक प्रकार का सम्बन्ध रखता है और दोनों को जीवन देता है। हम जानते हैं कि सूर्यरश्मियों के कारण अन्तरिक्ष समुद्र में से आवश्यकता होने पर मेघ बनते हैं और पृथ्वी के उन्नत स्थानों (पहाड़ों) पर बरसते हैं और फिर उससे पृथ्वी की चारों दिशायें जीवन प्राप्त करती हैं। पहाड़ों का पानी नदी रूप में, स्रोत रूप में और नाना रूप में होकर भूमि के नीचे से नीचे वासी को जीवनरस पहुँचाता है। यह सब ऊर्ध्वगामी हुए जल-वीर्य की महिमा है। जल जब सूक्ष्म होकर ऊपर उठता है तब वह जल (स्थूल जल) नहीं रहता, वह वाष्प बनकर उठता है, जैसे कि वीर्य ऊपर उठकर सूक्ष्म वीर्य अर्थात् ओज बन जाता है। ओज के रूप में ही वह सारे शरीर को धारण करता है। शारीरिक जीवन का अधार बनता है। सूक्ष्म जल वाष्प रूप में ही अन्तरिक्ष-समुद्र में रहता है जो कि सब जगत् का जीवनाधार है। इस सूक्ष्म जल का जब कुछ अंश पृथ्वी को जीवन-वर्षा देने के लिए स्थूल रूप धारण करता है तो भी यह शुद्ध रूप में आता है, उसमें पृथ्वी की मलिनतायें नहीं होती और द्युलोक की दिव्यता मिली होती है, जैसे कि ओज के समुद्र के कारण ब्रह्मचारी में जो कुछ स्थूल वीर्य स्थूल शरीर के लिए उत्पन्न होता है तो वह शुद्ध ही होता है; वह शारीरिक मलिनता (उत्तेजनावश होने वाली प्रवृत्ति) से रहित तथा दिव्यता (आत्मशक्ति तेजस्विता) से युक्त होता है। तात्पर्य यह है कि ऊपर से बरसने वाला जल शुद्ध होता है। दूसरे प्रकार का होता है। वह शुद्ध इसलिए होता है चूँकि तपस्या द्वारा ऊर्ध्वगामी किया जाता है, तपस्या द्वारा द्यौ और पृथ्वी के सम (उचित) गुणों से युक्त होता है। अभिक्रन्दन (गर्जन व नाद) और स्तनयन (कड़कना व ध्वनि) इन दो शब्दों से जो मेघ (जगत् के अन्तरिक्ष) की या ब्रह्मचारी (ब्रह्मचारी के अन्तरात्मा) की आवाज का वर्णन किया गया है वह भी मेरी समझ में द्यौ और पृथ्वी इन दोनों से आकर वाणी पर पड़ने वाले और इन दोनों पर असर करनेवाले उचित (सम) प्रभावों को सूचित करने के लिए है। अभिक्रन्दन से शायद पार्थिव भाव अभिप्रेत है और स्तनयन (विद्युत के विशेष प्रभाव

के कारण होने वाले शब्द) को दिव्य आवाज के अर्थ में कहा गया है। अधिभूत में ब्रह्मचारी लोग जहाँ अपनी स्थूल वाणी से गरजते हैं वहाँ वे उस से भी अधिक बलवाली, उस के भी आधार में विद्यमान अपनी मानसिक वाणियों की हृदयबेधक प्रबल गर्जनाओं से भी बोलते हैं। और अध्यात्म में, इस वृष्टि के साथ जो दो प्रकार के शब्द होते हैं उन्हें नाद और ध्वनि नाम से कहा जाता है। इसी तरह इस मन्त्र में जो मेघों को या ब्रह्मचारियों को अरूण (आरोचमान, चमकता हुआ) तथा शितिंग (धुन्धला, श्याम) कहा गया है। वह भी द्यौ और पृथ्वी के उन के शरीर पर सम प्रभाव को सूचित करने के लिए है। बादल तो सफेद और काले होते ही हैं, पर ब्रह्मचारी भी दिव्य तपस्या के कारण तेजस्वी तथा भौतिक (शारीरिक) तपस्या के कारण कुछ श्यामल से होते हैं। एवं अध्यात्म में ब्रह्मचारी के हृदय में जो दो द्यावापृथिवी के विरोधी गुणों की महान् समता होती है, उसके कारण उसे भी अरूण और शितिंग कहा गया है। अस्तु।

इस प्रकार द्यौ और पृथिवी की समता के कारण आधिदैविक जगत् के हृदय में (अन्तरिक्ष-समुद्र में) या आधिभौतिक जगत के हृदय में या ब्रह्मचारी की आत्मा में ऐसा महान् बल आ जाता है कि वह 'बृहत्-शेप' हो जाता है, महान् प्रभाव वाला हो जाता है और जब वह इस शरीर पर या इस स्थूल जगत् (पृथ्वी या पृथ्वी के प्राणि-जगत्) पर कृपादृष्टि करता है तो वह अपनी ओज वृष्टि द्वारा शरीर के कोने-कोने को या अपनी जलवृष्टि द्वारा पृथ्वी की चारों दिशाओं को पृथ्वी के सब प्राणियों को जीवन से आप्लावित कर देता है। कई लोग इस मन्त्र में जलवृष्टि के उपमा द्वारा भौतिक वीर्यप्रदान का वर्णन समझते हैं। परन्तु यह ठीक नहीं। जल का वर्णन यहां प्रायः ज्ञान-रस के लिए आया है, स्नातक विद्याजल में नहाये हुए को कहा है, समुद्र का अर्थ ज्ञान समुद्र है इत्यादि हम देख चुके हैं और आगे भी इस सूक्त में देखेंगे। परन्तु इससे भी मुख्य बात यह है कि इस सूक्त में जिस जन्म व जीवन का वर्णन है वह विद्या से होनेवाले जन्म व जीवन का है। तीसरे मन्त्र में गर्भधारण करने और बच्चा पैदा होने का वर्णन

कितना स्पष्ट हैं पर उसका अर्थ भौतिक गर्भ व भौतिक जन्म कोई भी नहीं करेगा। ब्रह्मचारी के इस, प्रकरण में, दूसरे प्रकार के मानसिक व ज्ञानमय जन्म व जीवन का ही वर्णन सम्भव है। अतः इस मन्त्र में भी अन्तरिक्षस्थित ब्रह्मचारी के जिस जीवन-प्रदान का वर्णन है वह भौतिक वीर्यप्रदान का नहीं किन्तु उससे ऊँचे ज्ञानमय जीवन के प्रदान का वर्णन है। पर सब से बड़ी बात यह है कि इस मन्त्र में आभ्यन्तर उत्पत्ति का वर्णन है, वीर्य-शक्ति द्वारा अपने शरीर में ही—शरीर से कहीं बाहर नहीं—जीवन प्रदान का वर्णन है, यह बात सर्वथा स्पष्ट है। असल में हम भौतिक स्थूल चेतना में इतने अधिक ग्रस्त हैं कि दूसरी बात वह चाहे कितनी स्पष्ट क्यों न हो, अपनी स्थूल अवस्था के अनुसार ही समझ सकते हैं, अधिक नहीं। शास्त्रों में लिखा है कि पहले युगों में मानस प्रजा होती थी, मैंथुन द्वारा नहीं किन्तु केवल मनःशक्ति द्वारा ही प्रजा (सन्तान) होती थी। इस में तो आज कोई विश्वास करेगा ही नहीं, पर लोग अभी इतना भी समझने को उद्यत नहीं हैं कि जैसे भौतिक उत्पत्ति होती हैं वैसे ही मानसिक व आत्मिक उत्पत्ति भी हो सकती, जैसा भौतिक जीवन है वैसा मानसिक व आत्मिक जीवन भी है बल्कि मानसिक व आत्मिक जीवन इस स्थूल जीवन की अपेक्षा बहुत अधिक व्यापक और बहुत अधिक महत्वशाली है। यह तुच्छ स्थूल भौतिक-जीवन तो उन्हीं के आधार पर है। यदि हम इस दृष्टि से देखें तो हमें पता लगेगा कि इस मन्त्र में मानसिक क्षेत्र के जीवन का कितना स्पष्ट वर्णन है, और मुख्यतः इसी क्षेत्र में ऊर्ध्वरिता होने की महिमा का यहाँ वर्णन है।

जो मनुष्य जितनी तपस्या करता है, वह उतना ही वीर्य को ऊपर ले जाता है, ऊँचे लोक में ले जाता है और उतनी ही प्रभावशाली, उतनी ही उत्पादक शक्ति वाली वृष्टि करने योग्य बनता है। यह एक साधारण नियम है। वीर्य का ऊर्ध्वगामी क़रना ब्रह्मचर्य की तपस्या है और दिव्य वृष्टि प्राप्त करना उसका फल है। यदि कोई पच्चीस वर्ष तक ही स्थूल ब्रह्मचर्य करता है अर्थात् पूरी तरह वीर्य को ऊर्ध्वगामी करता है (आजकल के वायुमण्डल में तो यह इतना करना भी कठिन हो गया है) और इससे आगे बढ़ने की

शक्ति नहीं रखता है तो वह गृहस्थ होकर वीर्य की स्थूल वृष्टि द्वारा जो संतान पैदा करेगा वह बेशक भौतिक दृष्टि से अच्छी संतान होगी। पर यह इस मन्त्र का विषय नहीं। इस प्रकार वह यद्यपि भौतिक जीवन का विस्तार करने में जरा-सा कार्य करेगा पर वह इससे अधिक जीवन व प्रभाव संसार में नहीं ला सकेगा। किन्तु इस मन्त्र में इससे बहुत अधिक जीवन व प्रभाव लानेवाले और इससे बहुत अधिक ऊपर वीर्यशक्ति को ले जानेवाले ऊर्ध्वरेता का वर्णन है, वहां तक ले जानेवाले का जहां कि वीर्य उस मानसिक व ज्ञानमय शक्ति के रूप में आ जाता है जो कि सचमुच सब जगत् का जीवन की वर्षा से नहला देती है। योगशास्त्र में सर्वोच्च समाधि की अवस्था में जिसे धर्ममेघ की वृष्टि के नाम से कहा है, अन्ततः तो इस मंत्र में उस दिव्य वृष्टि का वर्णन है। उस समाधि में जो 'धर्मामृत-धारायें' 'सहस्रशः' बरसती हैं, कहते हैं कि उनसे जन्म-जन्मान्तर की अधर्म-मलिनतायें क्षण भर में धुल जाती हैं और सारा शरीर और सारा प्राण नया हो जाता है, शरीर का एक-एक अणु नये दिव्य जीवन से जीवनमय हो जाता है। वह धर्ममेघ की वर्षा शरीर के सानु (उन्नत प्रदेशों) अर्थात् प्राणकेन्द्रों पर होती है, वहाँ से यह जीवन शक्ति अपने मार्गों द्वारा शरीर के एक-एक अणु तक पहुँच जाती है। इसीलिये व्यास जी ने ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा होने की अवस्था में होने वाली सिद्धि का वर्णन करते हुए लिखा है—'अप्रतिघान् गुणान् उत्कर्षति' अर्थात् जिसका प्रतिघात नहीं हो सकता, ऐसी अणिमा, लघिमा आदि अलौकिक शारीरिक सिद्धि के गुणों द्वारा वह अत्यन्त ऊँचा उठ जाता है। इस वृष्टि के समय जो नाद और ध्वनि (अभिक्रन्दन और स्तनयन) होते हैं, वे वहीं की बातें हैं। उनका यहाँ क्या वर्णन किया जाय? पर यह वृष्टि तभी होती है जबकि उत्कर्ष प्राप्त करते हुए योगी का वीर्य नानाविध दिव्य शक्तियों में परिणत होता हुआ बहुत-बहुत ऊपर पहुँच जाता है। उससे नीचे के क्षेत्रों तक पहुँचने से भी जो वृष्टियाँ होती हैं, हमारे लिए तो वे ही बहुत काफी हैं अस्तु, यह तो व्यष्टि-जगत् में ऊर्ध्वरेता होने की महिमा है। आधिदैविक जगत् में जल-वीर्य के ऊर्ध्वगामी होने से वृष्टि द्वारा सब जगत् को जीवन मिलता है,

यह ऊपर बताया ही जा चुका है। इसी तरह आधिभौतिक जगत् में अर्थात् मनुष्य समाज में भी हम देख सकते हैं। समाजपुरूष अपने अन्दर ज्ञान को उन्नत, ऊर्ध्वगामी करने का यत्न करता है जिससे कि समाज में उत्कृष्ट ब्रह्मचारी पैदा होते हैं। वे मानो समाज में धर्ममेघ होते हैं, वे समता में रहनेवाले समाज के हृदय-स्थानीय होते हैं, वे बाह्य और मानस वाणी से गरजते हुए जिस ज्ञानवृष्टि को करते हैं, उसे पहले समाज के सानु अर्थात् उन्नत पुरुष ही पुरुष को ग्रहण कर पाते हैं (सब सामान्य लोग तो उनकी बातों, उपदेशों को समझ नहीं सकते होते) और फिर उन द्वारा वह ज्ञान धीमे-धीमे समाज के प्रत्येक सामान्य व्यक्ति को भी पहुँच कर जीवन प्रदान करता है।

इस प्रकार इस वेदमंत्र में समता में स्थित ब्रह्मचारी का वर्णन है, जगत् रूपी आधिदैविक ब्रह्मचारी का वर्णन है जो कि अन्तरिक्ष में ठहर कर पृथ्वी (स्थूल शरीर) को जीवनयुक्त करता है, व्यष्टिजगत् रूपी वैयक्तिक ब्रह्मचारी का वर्णन है जो कि हृदयस्थ होता हुआ अपने शरीर में अणु-अणु को जीवन-वृष्टि देता है और समाज-पुरुष रूपी आधिभौतिक ब्रह्मचारी का वर्णन है जो अपने हृदयस्थानीय ब्रह्मचारियों द्वारा अपनी सामान्य जनता के लिए जीवन-वर्षा करता है। तो यहाँ अपने से जुदा किसी बाह्य स्थान पर वीर्य प्रदान करने का कहाँ वर्णन है। यहाँ तो ब्रह्मचारी, जगत् रूपी ब्रह्मचारी वैयक्तिक ब्रह्मचारी या समाज रूपी ब्रह्मचारी अपने ही आपको आगे-आगे पुनः-पुनः उत्पन्न करने के लिए अपने ही अन्दर वीर्य को व्यय करता है। अतएव अंग्रेजी भाषा में इस प्रक्रिया को कई Regeneration (पुनः उत्पत्ति) नाम से पुकारते हैं। वास्तव में यह आभ्यन्तर उत्पत्ति है और उसके सहित ऊर्ध्वगति है जो कि ब्रह्मचारी का स्वाभाविक विकास-मार्ग है। इस आभ्यन्तर उत्पत्ति में और इस ऊर्ध्वगति में ब्रह्मचारी को जो अधिक-अधिक विस्तृत और अधिक शान्त आनन्द प्राप्त होता जाता है, वह आनन्द (संसार में ग्रस्त पुरूष यह बात अनुभव कर सकें तो कितना अच्छा हो) उस आनन्द की अपेक्षा हजारों गुणा और लाखों गुणा अधिक होता है जिसे कि मनुष्य (अपने में विद्यमान पशुवृति के अंश के

कारण) ब्राह्य उत्पत्ति और वीर्य के अधोगमन में प्राप्त करते समझते हैं। और संसार में पड़े लोगों को यदि यह भी मालूम हो जाय तो कितना अच्छा है कि इस आभ्यन्तर उत्पत्ति और उस सहित ऊर्ध्वगंति से कोई मनुष्य या कोई समाज (या यह हमारा जगत्) कार्य करने यहा कहिये परोपकार करने के, इस समय की अपेक्षा, बहुत-बहुत अधिक योग्य हो सकता है। इसका कारण स्पष्ट है। सच्ची शक्ति और सच्चा जीवन ऊपर से होने वाली वृष्टि से ही प्राप्त हो सकता है। और यह बात बताई जा चुकी है कि हम जितने अंश में वीर्य को ऊर्ध्वगामी कर सकेंगे, उतने ही अंश में दिव्य वृष्टि और दिव्य जीवन को पा सकेंगे। यह नियम सब शरीरों व सब जगतों में काम कर रहा है। आहा! देखो यह आधिदैविक जगत् भी अपने जल वीर्य को ऊर्ध्वगामी करने के कारण वृष्टि पाकर अपनी पृथिवी (शरीर) को जीवन से भरपूर कर रहा है। यह आधिभौतिक जगत भी अपने ब्रह्मचारियों द्वारा ज्ञान-जीवन पाकर प्रफुल्लता पा रहा है और जी रहा है और ये ब्रह्मचारी अपने व्यष्टि जगत में भी ऊर्ध्वरेता होने के कारण धर्ममेघ तक की वृष्टि को पाकर अपनी पृथ्वी अर्थात् स्थूल शरीर तक के अणु-अणु को दिव्य जीवन से आप्लावित कर रहे हैं। तो हे प्राणि! मनुष्यजन्म पाकर तू ऊर्ध्वरेता होने का यत्न क्यों नहीं करता? याद रख कि तू जितना वीर्य को ऊर्ध्वगामी करेगा उतना ही तू उत्कर्ष को प्राप्त होगा उतने ही दिव्य वृष्टि के कारण तुझे प्राप्त होंगे, उससे जरा भी ज्यादा नहीं।

ब्रह्मचारी का नानाविध समिधाधान

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मचारी** ॥ छन्दः—जगती ॥

अग्नौ सूर्ये चन्द्रमसि मातरिश्वन्ब्रह्मचार्य१प्सु समिधमा दधाति।
तासामर्चींषि पृथगभ्रे चरन्ति तासामाज्यं पुरुषो वर्षमापः ॥

—अथर्व० ११।५।१३

मन्त्रार्थ—ब्रह्मचारी=ब्रह्मचारी **अग्नौ**=अग्नि में, **सूर्ये**=सूर्य में, **चन्द्रमसि**=चन्द्रमा में, **मातारिश्वनि**=वायु में, **अप्सु**=और जल में, **समिधम्**=समिधा को **आदधाति**=रखता है। **तासाम्**=उन समिधाओं की **अर्चींषि**=ज्वालायें या किरणें **पृथक्**=जुदा-जुदा **अभ्रे**=अन्तरिक्ष में **चरन्ति**=चलती हैं। **तासाम्**=उन समिधाओं का **आज्य**=घी **पुरुषः**=पुरुष, अन्तरात्मा होता है और **वर्षे**=वर्षा **आपः**=व्यापक जल व व्यापक कर्म [व्यापकताओं] की होती है।

गत मन्त्र में ऊर्ध्वरिता बनने से होने वाली जिस वृष्टि का वर्णन किया गया है, वह दूसरे शब्दों में या पारिभाषिक शब्दों में यज्ञ करने से या समिधाधान करने से होती है, ऐसा कहना चाहिये। वैदिक मन्तव्य प्रसिद्ध है कि वृष्टि यज्ञ से होती है जिसे आजकल की भाषा में ऊर्ध्वरिता होना या वीर्य का ऊर्ध्वगमन कहते हैं, उसे ही इस प्रकरण में रूपान्तर से समिधाधान नाम से कहा गया है। अतएव मैंने पीछे (जैसे चौथे और छठे मन्त्र में) समिधा का अर्थ दीपक से उपमा देते हुए ज्ञानदीपन किया है। जैसे दीपक में तेल के बत्ती द्वारा ऊपर जाने से दीप्ति अर्थात् समिन्धन होता है, वैसे ही ब्रह्मचारी में वीर्य के सुषुम्ना द्वारा ऊपर जाने से समिन्धन होता है। यह समिन्धन ब्रह्मचारी नाना प्रकार से करता है और उससे नाना प्रकार की दिव्य वृष्टि उसे प्राप्त होती है, इसका वर्णन पाठक इस मन्त्र में पायेंगे।

ब्रह्मचारी अग्नि में समिधा रखता हैं, यह कहा ही गया है। परन्तु यहाँ पर कहा है कि ब्रह्मचारी अग्नि में, सूर्य में, चन्द्रमा में, वायु में और जल में भी समिधा का आधान करता है। यदि किसी तरह सूर्य में और चन्द्रमा में भी समिधा रखी जा सके तो भी वायु और जल में तो समिधा जलाना भौतिक रूप से सम्भव नहीं हैं, यह सब स्वीकार करेंगे। अतएव यहां यह स्पष्ट हो गया कि इस प्रकरण में समिन्धन व समिधा से भौतिक प्रदीप्ति ही अभिप्राय नहीं है। अतएव समिन्धन का अर्थ हम जो एक प्रकार की अभौतिक प्रदीप्ति, ज्ञानदीप्ति ऐसा करते रहे हैं, वह सर्वथा उचित है। बात यह है कि भौतिक अग्नि के आधार में जो सूक्ष्म अग्नि है, वह बहुत विस्तृत है। उस दृष्टि से हर एक वस्तु का एक अग्नि है। प्रत्येक वस्तु का आत्माग्नि है, ऐसा कहना चाहिये। तो इस वेदवचन का मतलब यह हुआ कि ब्रह्मचारी अग्नि, सूर्य, चन्द्र आदि प्रत्येक की आन्तरिक अग्नि में, आत्माग्नि में ये समिधायें रखता है और इस प्रकार इनका सच्चा ज्ञान प्राप्त करता है। वायु और जल में भी अग्नि है जिसमें अग्निहोत्र करके ब्रह्मचारी इससे मिलनेवाली ज्ञानदीप्ति को प्राप्त करता है।

यहाँ अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, मातरिश्वा और आपः इन पाँच देवों का ही क्यों उल्लेख किया गया है, यह विचारणीय हैं। मैं तो यही कह सकता हूँ कि यहां इन्हीं पांच रूपों में ईश्वरीय शक्तियों अर्थात् देवताओं का वर्गीकरण किया गया है, यह समझना चाहिए। इन पांच के अन्दर किन पांच देवताओं से सम्बन्ध है, यह नीचे कोष्ठक में दिया गया है। इनका पांच प्राणों से व पंचभूतों से भी सम्बन्ध प्रकट किया जा सकता है। पर मुझे इसमें एक से एक अधिक सूक्ष्मता का क्रम प्रतीत होता है। सायणाचार्य जी ने लिखा है कि यदि अग्नि न मिले तो सूर्य को लक्ष्य करके समिधा का आधान कर दे, सूर्य भी न मिले तो चन्द्रमा में न हो तो वायु में और वायु भी न हो तो जल में। परन्तु यहाँ 'अथवा' का तो कुछ जिक्र ही नहीं और ऐसा विधान कुछ संगत भी प्रतीत नहीं होता। मेरी समझ में सबसे अधिक़ सुलभ तो अग्नि ही है। अग्नि का आदि रूप सूर्य है, सूर्य से भी बड़ी ज्योति चन्द्र है (देखो—तैत्तिरीयोपनिषदि १-

५-२) और सूर्य चन्द्र के भी मूल में मातरिश्वा अर्थात् सूत्रात्मा वायु (प्राणाग्नि) है, और उसके भी मूल में आपः नामक मूलप्रकृति है। ब्रह्मचारी इन सब में ही उत्तरोतर समिधाधान करता और इनके तत्व को पहुँचता है। अथर्ववेद के द्वितीय काण्ड के १९ से २३ सूक्त तक इन्हीं अग्नि, सूर्य आदि पांच देवों का वर्णन है, केवल मातरिश्वा की जगह वायु शब्द का प्रयोग है तथा क्रम की भिन्नता है। वेद व उपनिषद् में अन्य किसी जगह इन्हीं पांच का वर्णन मुझे दिखाई नहीं दिया। अस्तु। अध्यात्म में इन पांचों का स्वरूप तथा इनका पंच प्राणों द्वारा ब्राह्य जगत् से सम्बन्ध निम्न कोष्ठक से स्पष्ट हो जायेगा—

आधिदैविक	आध्यात्मिक	पंच प्राण	पंच लोक
अग्नि	वाक् (कर्मेन्द्रिय का प्रतिनिधि)	अपान	पृथ्वी
सूर्य	चक्षु (ज्ञानेन्द्रिय का प्रतिनिधि)	प्राण	द्यौ
चन्द्रमा	मन	समान	अन्तरिक्ष (विद्युत्)
मातरिश्वा	प्राण	व्यान	दिशाएँ
आपः	रेतस्	उदान	आकाश

(देखो ऐतरेय १-२-४; तथा छान्दोग्य, प्रपाठक ५, खण्ड १८ से २३)

ब्रह्मचारी अपने अन्दर वाणी, चक्षु, मन, प्राण और रेतस् देवों की अग्नि में समिधा डालकर इन्हें वश में करनेवाला और इनका तत्ववेत्ता बन जाता है, जैसे आधिदैविक (या आधिभौतिक) जगत् रूपी ब्रह्मचारी अपने अन्दर के सब प्राणियों के लिए अग्नि, सूर्य, चन्द्र, वायु तथा आपः में अग्निहोत्र करता हुआ इनकी शक्ति से लाभ उठाता या वर्षा प्राप्त करता है। पर संसार में इन पाँचों देवों

की शक्तियाँ प्रत्येक कर्म में परस्पर इस तरह मिले-जुले रूप में काम कर रही हैं कि मनुष्य को इनका मिश्रित रूप ही दिखाई देता है, उनके जुदा-जुदा कार्य को वह नहीं जान पाता। संसार के मामूली लोग इसी अज्ञान की अवस्था में रहते हैं। किन्तु ब्रह्मचारी इनको इतनी अच्छी तरह तत्वतः जान लेता है, इनमें से प्रत्येक देवता का जुदा-जुदा यजन करने द्वारा इनके परिणामों का इतनी अच्छी तरह ज्ञान प्राप्त कर लेता है कि वह सब जगह इन पांचों में से प्रत्येक शक्ति के प्रभाव को जुदा-जुदा देख सकता है। जैसे कि सूर्य की सफेद किरण को फाड़ कर वैज्ञानिक लोग उसे सात जुदा-जुदा रंगों में देख सकते हैं या जैसे अन्तरिक्ष की विशेष अवस्था हो जाने पर सफेद सूर्य किरण सात रंगों वाले विशाल इन्द्र-धनुष के रूप में स्वयमेव दिखाई देती है वैसे ब्रह्मचारी प्रत्येक परिणाम का विश्लेषण करके उसमें अग्नि, सूर्य आदि प्रत्येक का जुदा-जुदा प्रभाव देख सकता है, बल्कि अपने अन्दर की प्रत्येक वृत्ति में वाणी, चक्षु, मन आदि प्रत्येक शक्ति के प्रभाव को अपने हृदय में अनुभव करते रहने का अभ्यासी होने के कारण वह बाहर के अग्नि, सूर्य आदि के प्रभावों को भी बड़ी आसानी से अन्तरिक्ष में अनुभव कर सकता है और अनुभव करता है। अपने हृदय द्वारा बाहर के अन्तरिक्ष में भी सदा अनुभव करता है। मानो वह जो अग्नि (वाक्), सूर्य (चक्षु) में से प्रत्येक में समिधा रखता है तो उसमें से प्रत्येक की ज्वाला, किरण उसे हृदय में या अन्तरिक्ष में स्पष्ट जुदा-जुदा दिखाई देती है क्योंकि उसका हृदय शुद्ध होता है और वह प्रत्येक देव की अग्नि को समिद्ध करके उसे हृदय तक या अन्तरिक्ष तक ऊर्ध्वगामी कर लेता है। जरा कल्पना कीजिए कि ब्रह्मचारी पाँच अग्निहोत्र कर रहा है और उनसे मिलकर उठती हुई भिन्न-भिन्न प्रकार की (मानो भिन्न-भिन्न रंग का) ज्वालायें व किरणें अन्तरिक्ष में ब्रह्मचारी को भिन्न-भिन्न रंगों में दिखाई देती हैं, परन्तु दूसरे लोगों को वह एक ही सफेद रंग दिखाई दे रहा है क्योंकि वे समिधादान करनेवाले नहीं हैं।

पर इस समिधाधान में घी कौन-सा होता है और इसमें समिधाधान से वृष्टि कैसे होती है, यह भी समझ लेना चाहिए।

जैसे घी से समिधा प्रज्वलित की जाती है वैसे इस आन्तरिक अग्नि में समिधा प्रज्वलित करने के लिए ब्रह्मचारी को अपने आप को, अपना जीवन, अपना अन्तरात्मा लगा देना होता है। इसलिए यहाँ कहा है कि उन समिधाओं का घी 'पुरूष' होता है। शरीर-पुर में बसने वाला अन्तरात्मा ही वह पुरूष है जिसके बिना वह समिधा प्रज्वलित नहीं होती। ब्रह्मचारी जब अग्नि में, सूर्य में, अपने आप की अपने व्यक्तित्व की समिधा रखता है तो उसमें उसका पुरुष, हृत्पुरुष, उसकी अन्तरात्मा घी का काम देती है। अन्तरात्मा का तेजस्विता उसे शीघ्र प्रज्वलित करा देती है। और जितना पूरी तरह उसमें अन्तरात्मा (पुरुष) का सहयोग होता है, उतने ही वेग से समिधा जल उठती है। एवं समिधा जल कर ऊर्ध्वगामी होकर ऊपर से जिस वृष्टि को लाती है, उसे यहाँ आपः शब्द से कहा गया है। 'आपः' का अर्थ व्यापक जल होता है, व्यापक कर्म होता है तथा फैली हुई प्रजायें होती हैं। स्थूल संसार में जो वर्षा होती है, वह जल की ही होती है। परन्तु आन्तरिक संसार में व्यापक कर्म की वृष्टि होती है और आधिभौतिक अर्थ में प्रजा की वृष्टि भी कही जा सकती है। यहाँ पर मुख्यतः व्यापक कर्म, यही अर्थ करना सबसे अधिक उपयुक्त है। बल्कि 'आपः' का अर्थ व्यापकता, विस्तार (Wideness) इतना हीं काफी है। ज्यों-ज्यों मनुष्य ऊँचा उठता है, ऊर्ध्मगामी होता है त्यों-त्यों वह अधिक-अधिक व्यापक व विस्तृत स्थिति में पहुँचता जाता है। दूसरे शब्दों में ज्यों-ज्यों समिधाधान से अग्नि समिद्ध होकर ऊपर उठती है या वीर्य ऊर्ध्वगामी होता है त्यों-त्यों ऊपर से विस्तार व व्यापकता की वृष्टि होती है। इसी को आपः की वृष्टि कहा है। व्यापक चेतना में रहनेवाले मनुष्य का कार्य तो व्यापक होता ही है। इसीलिए मैंने गत मन्त्र की व्याख्या में कहा था कि मनुष्य यदि अधिक प्रभावशाली कर्म करने वाला, वस्तुतः अधिक परोपकारी बनना चाहता है तो उसे ऊर्ध्वरेता बनना चाहिए, अधिक से अधिक ऊर्ध्वरेता बनना चाहिए या इस मन्त्र के शब्दों में कहें तो उसे अधिक से अधिक अच्छी तरह समिधाधान करनेवाला बनना चाहिए।

आचार्य का स्वरूप

ऋषि:—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मचारी ॥ छन्द:—अनुष्टुप् ॥

आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः ।
जीमूता आसन्त्सत्वानस्तैरिदं स्वराभृतम् ॥

—अथर्व० ११।५।१४

मन्त्रार्थ—आचार्यः=आचार्य **मृत्युः**=मृत्यु है, **वरुणः**=वरुण है, **सोमः**=सोम है, **ओषधयः**=ओषधियाँ है, **पयः**=दूध है, **सत्वानः**=[आचार्य के] ये [पांचों] रूप पाँच बल **जीमूताः**=जीवन बरसाने वाले मेघ **आसन्**=होते हैं। **तैः**=उन ही सत्वों से [आचार्य ने] **इदम्**=इस [ब्रह्मचारी के लिए] **स्वः**=सुख, अमृतत्व व तेज का **आभृतम्**=आहरण किया है, [इनकी वर्षा] लाया है।

ब्रह्मचर्य का फल, जीवनवृष्टि पाने के लिये ऊर्ध्वरिता होना आवश्यक है, यह कहा गया है। ऊर्ध्वगमन करना अग्नि का गुण है अतः गत मन्त्र में ऊर्ध्वरिता होने के लिए अग्नि समिन्धन (समिधाधान) का वर्णन किया गया। ऊर्ध्वगमन से होने वाली इस जीवनवृष्टि से आचार्य का सम्बन्ध बताते हुए—यह बताते हुवे कि यह वर्षा आचार्य के सत्वों से होती है। इस मन्त्र में आचार्य का स्वरूप पञ्चविध स्वरूप सामने रख दिया गया है।

पूर्वार्द्ध में कहा है कि आचार्य मृत्यु है, वरूण है, सोम है, ओषधियाँ और पयः हैं। आचार्य मृत्यु है, इसका अन्तिम मतलब यह है कि आचार्य दूसरा जन्म देने वाला है। पर दूसरा जन्म पाने के लिए मरना जरूरी है, मृत्यु के आधीन होना जरूरी है। आचार्य पहिले ब्रह्मचारी को मारता है, तभी वह उसे नंया जीवन दे सकता है। कठोपनिषद् में जो नचिकेता की कथा है, उसमें यही बात आलंकारिक रूप से कही है। कई आर्यसामाजिक टीकाकारों ने

वहां यम का अर्थ 'यम' नामक आचार्य किया है। पर यह ठीक नहीं है। 'यम' का अर्थ वहां मौत ही है, नहीं तो स्वर्ग का 'न तत्र त्वं न जरया बिभेति' इस तरह वर्णन करते हुए 'त्वं' कभी न कहा जाता। कठोपनिषद् में आलंकारिक रूप से कहा है कि नचिकेता (न जानने वाला-जिज्ञासु) पिता के द्वारा मृत्युरूप आचार्य के हवाले किया जाता है। वह तीन दिन बिना खाये-पिये वहां रहता है अर्थात् भोग छोड़कर ब्रह्मचर्य पूर्वक कठिन तपस्या से रहता है। अतएव प्रसन्न होकर मृत्यु उसे तीन वर देता है। इस ब्रह्मचर्य-सूक्त में यही बात और तरह कही गई है अर्थात् (देखिये तीसरा मंत्र) तीन रात्रि तक ब्रह्मचारी आचार्य के गर्भ में रहता है, और फिर पार्थिव (स्थूल) ज्ञान से, आन्तरिक्ष (मानसिक जगत् के) ज्ञान से और दिव्य (आत्मिक) ज्ञान से इन तीनों प्रकार से समिद्ध, प्रदीप्त होकर निकलता है, पैदा होता है, तात्पर्य यह है कि विद्या (सावित्री) से होने वाला दूसरा जन्म भी मृत्यु द्वारा ही पाया जा सकता है, अतएव आचार्य सबसे पहले मृत्यु होता है। आचार्य के अन्य सब रूप पीछे प्रकट होते हैं, सबसे पहले तो वह मृत्यु ही होता है। जब तक ब्रह्मचारी अपनी पहली अवस्था को छोड़कर, अपने आपे को मिटा कर, अपने आप को मारकर आचार्य के सामने नहीं आता तब तक आचार्य उसे नव-जीवन से संयुक्त नहीं कर सकता, उसे दूसरा जन्म (द्विजत्व) नहीं दे सकता। पूरा आत्मसमर्पण (Complete self-surrender), आचार्य की आज्ञा के सामने अपनी सब इच्छाओं का सर्वथा त्याग ही शिष्य का मरना है जिससे कि आचार्य मृत्यु कहाता है। इसमें सन्देह नहीं कि आचार्य के हवाले होना मृत्यु के हवाले होना है। जैसे कि जिस स्लेट पर पहले से कुछ लिखा हुआ है, उस पर कुछ और नहीं लिखा जा सकता है; वैसे ही आचार्य से सीखने के लिए ब्रह्मचारी को अपने सब पूर्वग्रहों, संस्कारों और नानाविध कामनाओं को छोड़ कर, मिटा कर ही आना चाहिए। मैंने तो देखा है कि एक विद्यार्थी ने अपनी स्लेट पर एक गणित के प्रश्न को अशुद्ध किया, मैंने कहा इसे फिंर देखो और शुद्ध करो, पर वह कई बार शुद्ध करने का यत्न करने पर भी शुद्ध नहीं कर सका। अन्त में मैंने कहा कि सारा

प्रश्न मिटा दो और फिर बिल्कुल नये सिरे से प्रश्न निकालो तो वह प्रश्न शुद्ध निकल आया। इसी तरह अपने-आप को बिल्कुल मिटाकर, हृदय-स्लेट को बिल्कुल साफ करके आने की जरूरत है, नहीं तो पूर्व संस्कार बड़े प्रबल होते हैं, बड़ी तीव्र इच्छाओं को पैदा करते हैं। उनके होते हुए उनके अनुसार जीवन में बड़ा यत्न करने पर भी शुद्धता व सफलता नहीं आ सकती।

गुरूकुल में शिक्षित होने का अर्थ है, उसका रंग चढ़ जाना। आचार्य तो पढ़ाई का एक पाठक्रम रखके, रहन-सहन के कुछ नियम बनाकर तथा यदि आवश्यकता हो तो उत्तम चरित्र वाले कुछ अन्य गुरूओं को इकट्ठा करके अपने गुरूकुल में केवल एक वायुमंडल पैदा कर देते हैं, जिसमें ब्रह्मचारियों का रखना ही उनको शिक्षित करना है, जिसमें रखना उन्हें गुरूकुलीय खास रंग के भाण्ड में डुबोये रखना है। कपड़ा जितना सफेद होगा, जितना उसका पहला रंग उतरा हुआ होगा, उतना ही तो उस पर बढ़िया रंग चढ़ेगा। नया रंग चढ़ाने के लिए पहला रंग उतरना, विरंजन होना (Bleaching) आवश्यक है। जो जरा भी विरंजित नहीं हुआ है वह काला कम्बल तो चाहे कितने वर्ष तक गुरूकुल के भाण्ड में पड़ा रहेगा, तो भी रंगा नहीं जावेगा।

'काली कंबली चढ़त न दूजो रंग'

अतः बिना मरे दूसरा कदम नहीं उठाया जा सकता। आचार्य बेशक अपने ब्रह्मचारियों को दूसरा जन्म देवेगा, पर इसके लिए वह सबसे पहले मृत्यु के रूप में पेश आवेगा। वे उसके मृत्यु रूप में से गुजर जायेंगे तभी उन्हें उसका वरूण रूप, सोम रूप, ओषधि रूप और अन्त में पयः (मातृ) रूप प्रकट होगा। जब आचार्य नियमों का पालन करानेवाले, नियमित रखनेवाले रूप में आता है, तब वह 'वरूण' होता है। वेद में वरूण देवता पापों से निवारण करनेवाला और इसके लिये बन्धनों से बाँधने वाला और छुड़ानेवाला भी प्रसिद्ध है। आचार्य मृत्युरूप होने के बाद वरूण रूप होता है। वरूण जल का देवता भी है। जब ब्रह्मचारी पूरी तरह आत्मसमर्पण कर चुका होता है तो उसे बड़ी आसानी से

आचार्य सच्चे नियमों से बाँध सकता है, उसका पाप निवारण कर सकता है, धो सकता है। आचार्य नियम नहीं चला सकता जब तक कि ब्रह्मचारी स्वयं अपने आप को बाँधने को तैयार न हो अर्थात् इस तरह अपने आपको मारने को तैयार न हो। वरूण के बाद आचार्य सोम होता है। नियम तभी तक बन्धन लगते हैं और अखरते हैं जब तक कि हमारी प्रवृत्ति उनके उल्लंघन करने की रहती है। नियम पालन करना जब सहज स्वभाव होता है तो आचार्य का सोम रूप दीखने लगता है, अर्थात् आचार्य प्यारा, अभयंकर, सौम्य लगता है। उसका जीवनदायी रूप प्रकट होने लगता है। इसके बाद वह 'ओषधय:' बनता है। दु:ख, दर्द, पीड़ा को हटाने वाला बनता है। ओष अर्थात् दाह को पी जानेवाली वस्तु ओषधि कहाती है, आचार्य तद्रूप होता है। उसके सोम रूप हो जाने पर ब्रह्मचारी अपने सब कष्ट, कठिनाइयां, दु:ख, दाह उसके सामने रखता है और आचार्य उनकी ओषधि बनकर उन्हें दूर कर देता है। और अन्त में वह 'पय:' पुष्टिदायक होता है; दूध पिलानेवाली, जीवन-रस पिलानेवाली माता बनता है। आचार्य के पय: रूप में आ जाने पर ब्रह्मचारी का नया जीवन पाना पूर्ण हो जाता है। इस तरह आचार्य मृत्यु होकर नवजीवनदायी होता है, महाभयंकर रूप होकर अन्त में पय: रूप बनता है।

इस मन्त्र के उत्तरार्द्ध मे कहा है कि—'सत्वान: जीमूता: आसन् तैरिदं स्व: आभृतम्'। आचार्य के पाँच रूप—मृत्यु, वरूण, सोम, ओषधि और पय:—ये पाँच रूप उसके पाँच सत्व हैं, पाँच बल हैं, पाँच शक्तियाँ हैं, उसकी ये शक्तियाँ 'जीमूत' होती हैं, जीवन बरसाने वाली होती हैं। जीमूत काअर्थ मेघ इसीलिए है, क्योंकि यह जीवन अर्थात् जल को बरसाने वाला होता है। आचार्य के ये पाँच सत्व—उसका मृत्युत्व, उसका वरूणत्व, उसका सोमत्व आदि—उपर्युक्त प्रकार से जीवन बरसाने वाले होते हैं, जीमूत होते हैं, जीवनवर्षक बादल होते हैं। आगे कहा है। तै: इदं स्व: आभृतम्।' उन्हीं सत्वों द्वारा आचार्य ने इस 'स्व: का आहरण किया होता है, संग्रह किया होता है। आचार्य ब्रह्मचारी के लिए द्यूलोक के जिस स्व: का, जिस तेज का, जिस सुख का आहरण करता

है वह उस अपने इन सत्वों द्वारा ही करता है। आचार्य को अपने में जो दिव्य तेज व दिव्य सुख प्राप्त होता है वह इन्हीं पाँच सत्वों द्वारा होता है। इस तेज को जो वह अपने ब्रह्मचारियों के लिए द्यूलोक से उतारता है, बरसाता है, तो वह भी अपने इन मृत्युत्व, वरूणत्व आदि पाँच सत्वों द्वारा ही उतारता है, ब्रह्मचारियों के लिए बरसाता है। यह सब महिमा आचार्य के मृत्यु आदि पांच रूपों की है। और इन सब रूपों में उसका सबसे पहला रूप मृत्यु है। इसलिए हे ब्रह्मचारियो! ब्रह्मचारी बनना चाहनेवालो! सचमुच शिष्यत्व स्वीकार करना चाहने वालो! आचार्य के मृत्यु रूप को देखकर कभी घबराना नहीं, उसे मृत्यु बनने देना। वह तुम्हारी नाना इच्छाओं को रोके, वह तुम्हें तुम्हारी मर्जी के बिल्कुल उल्टा चलने को कहे, कठोर तपस्या करावे, तुम्हें संयम के पाशों से बाँध कर तुम्हारे पूर्व संस्कारों को, तुम्हारे बुरे अपनेपन को, तुम्हारे क्षुद्र स्वार्थों को कुचल डाले, मार डाले, तो इस तरह अपने को मरने देना और इस विश्वास में अटल रहना कि बिना इस तरह मरे नवजीवन नहीं मिल सकता है। बिना इस तरह पूर्ण आत्मसमर्पण किये कल्याण नहीं हो सकता। निःसन्देह मृत्यु आचार्य ही सोम और ओषधि और पयः बनेगा। जीवनवृष्टि पाने का यही तरीका है। इसी प्रकार आचार्य तुम्हारे लिए 'स्वः' का आहरण कर सकेगा। तुम अपने आप को (पुरुष को) आज्य बनाओ तो आपः की वर्षा होगी।

ब्रह्मचारी और आचार्य का (मित्र वरुण) सम्बन्ध

ऋषि:—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मचारी ॥ छन्द:—पुरस्ताज्ज्योतिस्त्रिष्टुप् ॥

अमा घृतं कृणुते केवलमाचार्यो भूत्वा वरुणो यद्यदैच्छत् प्रजापतौ। तद् ब्रह्मचारी प्रायच्छत् स्वान्मित्रो अध्यात्मनः ॥

—अथर्व० ११।५।१५

मन्त्रार्थ—आचार्यः=आचार्य **अमा**=[ब्रह्मचारी के] साथ होकर या एक घर [गुरूकुल] में होकर **केवलम्**=ही, शुद्ध **घृतम्**=तेज:प्रवाह को, ज्ञान प्रवाह को **कृणुते**=करता है। वह **वरुणः भूत्वा**=वरूण [पापनिवारक] होकर **प्रजापतौ**=प्रजापति के काम के लिये **यत्-यत्**=जो-जो **ऐच्छत्**=इच्छा करता है **तत्**=उसे **मित्रः ब्रह्मचारी**=मित्र हुआ ब्रह्मचारी **स्वात् आत्मनः अधि**=अपनी आत्मा के अन्दर से, अपनी आत्मशक्ति के बल से **प्रायच्छत्**=दे देता है।

आशा है कि अब तक पाठकों को यह स्पष्ट हो गया होगा कि ब्रह्मचर्य ऊर्ध्वगमन है और उस का फल दिव्यवृष्टि है। साधारण मनुष्य थोड़े से यत्न के बाद, थोड़ी-सी तपस्या के अनन्तर, थोड़े से ऊर्ध्वगमन के पश्चात् ही फ़ल पाना चाहते हैं। पर यह ब्रह्मचर्य की भावना के विपरीत है। यह और बात है कि ब्रह्मचारी भी अपनी अवस्थानुसार छोटे-बड़े होते हैं। जब कोई ब्रह्मचारी अधिक तपस्या के लिए, अधिक आगे ऊर्ध्वगमन करने के लिए, अपने को अयोग्य, असमर्थ, अशक्त पाता है अत: वह ठहर जाता है और प्रतीक्षा करता है कि इतने यत्न से मिलने वाले फल से, इतनी तपस्या से मिली वृष्टि से वह अधिक शक्तिशाली और समर्थ होकर फिर आगे अधिक बड़ा ब्रह्मचर्य कर सकेगा, तो यह उसका ठहरना ठीक है। ऐसा मनुष्य यदि ठहरता है मानो वसु ब्रह्मचर्य के बाद गृहस्थ हो जाता है, तो भी वह ब्रह्मचर्य के रास्ते पर रहता है, क्योंकि

उसका लक्ष्य पूर्ण ब्रह्मचर्य ही होता है परन्तु यदि वह विषयभोग के लिए ब्रह्मचर्य को समाप्त करता है, ब्रह्मचर्य करते हुए भी इस प्रतीक्षा में रहता है कि इसकी समाप्ति पर उसे अभीष्ट आनन्द मिलेगा तो वह ब्रह्मचर्य के मार्ग पर नहीं चल रहा होता, क्योंकि उसका लक्ष्य भोग होता है। पहले प्रकार का मनुष्य भोग भी ब्रह्मचर्य के लिए करता है, दूसरे प्रकार का मनुष्य ब्रह्मचर्य भी भोग के लिए करता है। पहले का उद्देश्य ब्रह्मानन्द है, दूसरे का विषयानन्द कुछ-न-कुछ भोग और कुछ-न-कुछ ब्रह्मचर्य (संयम) दोनों करते हैं, पर फिर भी ये दोनों उल्टें मार्ग के यात्री होते हैं। इन में से मैं किस मार्ग पर हूँ, यह बात प्रत्येक पाठक को अपने विषय में अवश्य निश्चय कर लेनी चाहिये। यह जानने के लिये स्पष्ट पहिचान इस प्रश्न का उत्तर है कि क्या हम थोड़ी-सी तपस्या के बाद ही वृष्टि चाहते हैं? क्या हम थोड़े से श्रम के बाद ही भोग चाहते हैं? यदि ऐसा है तो हम दूसरे मार्ग पर हैं, ब्रह्मचर्य के मार्ग पर नहीं, क्योंकि ब्रह्मचर्य का मार्ग बहुत-बहुत लम्बा है, दूसरा मार्ग जल्दी खत्म होने वाला छोटा है।

यही कारण है कि आचार्य और ब्रह्मचारी का सम्बन्ध बहुत लम्बा होता है। यह केवल गुरूकुल-वास तक नहीं किन्तु जीवन भर रहता है। बल्कि कभी-कभी जन्मान्तर तक रहता है, जब तक कि उनका उद्देश्य पूर्ण नहीं हो जाता। ब्रह्मचारी जल्दी असमय में परिपक्व न हो जाय इसीलिये आचार्य की जरूरत होती है, ज्ञानदाता व जीवनदाता की जरूरत होती है। ठीक प्रकार ज्ञान और जीवन नहीं मिलता तभी मनुष्य समय से पहले पक जाता है। जरा सी तपस्या से आयी क्षुद्र वृष्टि से सन्तुष्ट हो जाता है, जरा से श्रम से थक कर क्षुद्र भोग में गिर जाता है। आजकल संसार में बाल्यकाल से ही प्रत्येक इन्द्रियं को उत्तेजित करके शीघ्र पकाने का सामान, उत्तेजक खानपान से लेकर फैशन बनाने और सिनेमा देखने तक, ऐसा कर दिया गया है कि मनुष्य की आन्तरिक शक्ति फलने-फूलने ही नहीं पाती और वह खत्म होने लगता है। इसी प्रकार ब्रह्मचर्य की घोर हानि होकर हमारी आयु घटती जा रही है, हमारा ज्ञान उथला होता जा रहा है, हम आत्मा के स्पर्श से

सर्वथा वंचित होते जा रहे हैं और मनुष्य-पशु, अप्राकृत पशु बनते जा रहे हैं। इस भयंकर स्थिति से उद्धार पाने के लिये आवश्यकता है कि हमारे छात्रों को (भावी नागरिकों को) आचार्य का जीवित संपर्क मिले, ठीक प्रकार के गुरु-शिष्य-सम्बन्ध में रहकर वे शिक्षित हो सके। यही गुरुकुल-शिष्य-प्रणाली की उत्तमता का रहस्य है। गुरू शिष्य का 'अमा' अर्थात् इकट्ठा और एक घर बनाकर रहना इस शिक्षा पद्धति में आवश्यक होता है। उसी पद्धति में गुरु शिष्य के साथ मिलकर प्रार्थना कर सकता है—

सह नौ यशः सह नौ ब्रह्मवर्चसम्।

तथा

सह नाववतु सह नौ भुनक्तु, सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीतमस्तु। –उपनिषद्

गुरु-शिष्य-सम्बन्ध की घनिष्ठता तो पहले यहा तक बताई ही जा चुकी है कि शिष्य गुरु के अन्दर (गर्भ में) रहता है। इस अभिन्न और स्थिर सम्बन्ध से ही सच्चे ज्ञान, सच्चे तेज का प्रवाह चल निकलता है, शुद्ध 'घृत' उत्पन्न किया जाता है। 'घृत' शब्द में दीप्ति और क्षरण, तेज और प्रवाह दोनों का भाव है। गुरु-शिष्य-सम्बन्ध के बिना शुद्ध ज्ञान, केवल ज्ञान, तेजस्वी और प्रसरणशील ज्ञान उत्पन्न होना असम्भव है। यदि हम चाहते हैं कि संसार में शुद्ध निर्मल सच्चे ज्ञान की धारा बहे तो हमें संसार में उस शिक्षा-प्रणाली को स्थापित करना होगा जिस में यह गुरु-शिष्य-सम्बन्ध पूरी तरह रहता है, आन्तरिक और निरन्तर भाव से रहता है। यह यत्न कौन करेगा? अस्तु?

अब जरा देखें कि यह गुरु-शिष्य-सम्बन्ध कैसा हैं? इस मंत्र में यह सम्बन्ध वरुण मित्र का सम्बन्ध बताया गया है। उस सम्बन्ध से जुड़ जाने पर आचार्य वरुण बनकर प्रजापति के निमित्त जो भी कुछ चाहता है, उसे ब्रह्मचारी मित्र बना हुआ अपनी आत्मा से दे सकता है, दे देता है। जैसे वरुण और मित्र से मिलकर जल बनता है [वेद में बहुत जगह जल की उत्पत्ति मित्रावरुणौ से बताई गई है। आजकल की वैज्ञानिक भाषा के अनुसार एक जगह पं० गुरुदत्त जी ने भी मित्र और वरुण का अर्थ ओषजन (Oxygen)

तथा अभिद्रवजन (Hydrogen) नामक गैस किया है। 'मित्रावरुण' इस द्वन्द्व के अनेक अर्थों में से एक अर्थ यह भी है इसमें शक नहीं] और सब संसार की शारीरिक तृष्णा को बुझाता है, वैसे ही गुरु-शिष्य-रूपी-वरुण-मित्र द्वारा वह तेजस्वी ज्ञान-रस पैदा होता है, बरसता है, जो कि प्राणियों के अन्दर की प्यास को बुझाता है। ये मित्रावरुण गुरु-शिष्य मिलकर जल की नहीं (वेद में तो की घृत और जल एकार्थ होते हैं) किन्तु घृत की धारा बहा देते हैं, ऐसा कहा जा सकता है। इनमें आचार्य (वरुण) का काम प्रजापति की इच्छा को जान लेना, संसार को किस ज्ञान की आवश्यकता है इसे देख समझ लेना है और शिष्य, (मित्र) का काम उसे जी जान से, आत्मा को लगाकर (इसीलिए मैंने तेरहवें मंत्र में पुरुष का अर्थ अन्तरात्मा किया है) दे देना है। यह सब प्रजापति के लिए होता है। सब द्वन्द्वों, की तरह गुरु-शिष्य-द्वन्द्व का पिता भी प्रजापति है। प्रजापति सब द्वन्द्वों का उत्पत्ति-स्थान, समता-स्थान है (प्रश्नोपनिषद्, प्रथम प्रश्न); गुरु-शिष्य-सम्बन्ध उसी प्रजापति के लिए स्थापित होता है। यहाँ पर यह प्रजापति स्थूल जगत् की देवता, इसकी ज्ञान-देवता है या दूसरे शब्दों में (जैसे कि हम सातवें मंत्र की व्याख्या में देख चुके हैं तथा अगले मंत्र की व्याख्या में देखेंगे) स्थूल जगत् पर प्रभाव डालने की ब्रह्मचर्यावस्था का नाम प्रजापति अवस्था है। तो 'प्रजापतौ' [प्रजापति के निमित्त] इस का मतलब यह हुआ कि स्थूल जगत् आदि के क्रम से संसार को ब्रह्मचर्य के मार्ग पर आगे-आगे ले जाने के लिए ही गुरु शिष्य मिलकर ज्ञात-घृत को संसार के अन्तरिक्ष में उत्पन्न करते हैं। इस ज्ञानोत्पत्ति के लिए आचार्य वरुण अर्थात् पापनिवारक होता है और ब्रह्मचारी मित्र होकर ज्ञान से (अतएव गुरु से) स्नेह करने वाला होता है, गत मंत्र में कहे आचार्य के पाँच रूपों में से केवल एक वरुण रूप को यहाँ मुख्यता से लिया गया है। उन सबके मुकाबले में शिष्य का जो एक मुख्य रूप होना चाहिये वह है मित्र। उसे स्नेह करनेवाला, प्रेम व भक्ति वाला होना चाहिए। शिष्य अपने इसी एक गुण के कारण गुरु से सब कुछ ले लेता है, सब कुछ ग्रहण कर लेता है, स्वभावतः ज्ञान

व जीवन ग्रहण करनेवाला बन जाता है। यह तो गुरुकुल वास की अवस्था की बात हुई।

किन्तु स्नातक हो जाने पर शिष्य देता है और गुरु लेता है। ऊपर कहा है कि यह सम्बन्ध बहुत लम्बा है, जीवनपर्यन्त या इससे आगे भी रहता है। गुरुकुलवास में तो गुरु देता है और शिष्य लेता है, पर स्नातक होने पर शिष्य की देने की बारी आती है। उस देने को गुरु-दक्षिणा कहते हैं। यह तो हम कह ही चुके हैं कि गुरु जो कुछ गुरु-दक्षिणा चाहता है, वह अपने लिए नहीं होती। अपना तो वह अपने आप भी नहीं होता। वह स्वयं प्रजापति का होता है और दक्षिणा भी प्रजापति के निमित्त ही चाहता है। अतः उसकी यह चाहना, यह इच्छा किसी बड़े और आवश्यक जगत्कल्याण के कार्य की पूर्ति के रूप में होती है, किसी सेवा व परोपकार के कार्य की होती है। और ब्रह्मचारी उसे अपने अन्दर की शक्ति से, अपनी आत्मा की शक्ति से पूरा करता है, अपना ही समझ कर पूरा करता है। प्रजापति के काम के लिए धन जैसी वस्तु की भी आवश्यरता हो सकती है। ब्रह्मचारी जब-जब उसे पूरा करता है तो उसके पीछे भी उसकी आत्मा होती है। उसकी दक्षिणा, उसका दान कभी आत्महीन नहीं होता। यदि कोई दक्षिणा शिष्य अन्तरात्मा से नहीं देता तो वह गुरु-दक्षिणा नहीं कही जा सकती। असल में जो शिष्य उपर्युक्त सम्बन्ध से गुरु से जुड़ा है वह जो कुछ देगा वह 'अध्यात्मनः' ही देगा। गुरु का काम ही यह है कि वह शिष्य की आत्मा में प्रजापति की आवश्यकतानुसार ज्ञान और शक्ति को उत्पन्न कर दे, जो यह शक्ति नहीं पैदा कर सकता वह सद्गुरु भी नहीं। इसीलिए संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं, ऐसी कोई बात नहीं, जिसे कि संसार के गुरु और शिष्य प्रजापति की इच्छा होने पर वरुण और मित्र के रूप मिलकर उत्पन्न नहीं कर सकते। गुरु-शिष्य मिलकर समय की प्रत्येक आवश्यकता को अवश्य पूरा कर सकते हैं। गुरु-शिष्य सम्बन्ध पर आश्रित इस वैदिक शिक्षा-पद्धति द्वारा निःसंदेह संसार में कोई भी महान् कार्य असम्भव नहीं है। केवल गुरु और शिष्य को वरुण और मित्र रूप से एकात्मा होने की आवश्यकता है।

[१६]

"आचार्य की महिमा"

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मचारी ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः।
प्रजापतिर्वि राजति विराडिन्द्रोऽभवद्वशी ॥

—अथर्व० ११।५।१६

मन्त्रार्थ—आचार्यः=आचार्य **ब्रह्मचारी**=ब्रह्मचारी होता है। **ब्रह्मचारी**=वह ब्रह्मचारी **प्रजापतिः**=प्रजापति बन जाता है। फिर **प्रजापतिः**=प्रजापति **विराजति**=विशेषतया राजमान, दीप्यमान होता है अर्थात् विराट् बनता है और वह **विराट्**=विराट् **वशी**=होकर **इन्द्रः अभवत्**=इन्द्र बन जाता है।

आचार्य और ब्रह्मचारी के जिस वरुण-मित्र सम्बन्ध का वरुण गत मन्त्र में हुआ है उसमें वरुण धन (Positive) है और मित्र ऋण (Negative) है, जैसे विद्या महासंहिता का वर्णन करते हुए तैत्तिरीय की शिक्षावल्ली में कहा है 'आचार्यः पूर्वरूपम्, अन्तेवासी उत्तररूपम्।' अतएव इस सम्बन्ध द्वारा आचार्य पूर्ण रूप से ब्रह्मचारी में प्रतिबिम्बित हो जाता है, संक्रान्त हो जाता है, आचार्य की अग्नि से ब्रह्मचारी भी वैसे-का-वैसा प्रदीप्त हो जाता है—'दीपाद्दीप-मिवान्तरम्'। आचार्य का ही उत्तर-रूप ब्रह्मचारी हो जाता है इसलिए यहाँ कहा है कि आचार्य ही ब्रह्मचारी होता है मानो आचार्य ही स्वयं ब्रह्मचारी में समा जाता है।

अपने आचार्य की प्रतिमूर्ति रूप हुआ यह ब्रह्मचारी अगले क्रम में प्रजापति बनता है, ब्रह्मचर्य के पहले क्रम (गुरूकुलवास) को समाप्त कर स्थूल जगत् पर प्रभुत्व पा जाने वाली ब्रह्मचर्यावस्था को प्राप्त कर लेता है।

प्रजापति होने के बाद अगले क्रम में वह विराजमान होता

हे, विशेष दीप्यमान होता है अर्थात् विराट् नामक दूसरी अवस्था को प्राप्त हो जाता है जिससे सूक्ष्म जगत् पर भी उसे प्रभुत्व मिल जाता है।

फिर वह विराट् ब्रह्मचारी पूर्णतया वशी बनकर इन्द्र हो जाता है, इन्द्र ब्रह्मचारी बन जाता है और आत्मिक जगत् को वश में करने वाली ब्रह्मचर्य की पूर्णावस्था को पहुँच जाता है।

इन तीनों अवस्थाओं का वर्णन और इन्द्र ब्रह्मचारी का वर्णन पाठक सातवें मंत्र की व्याख्या में देख चुके हैं अतः इस पर अब अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है। कई टीकाकारों ने प्रजापति, विराट और इन्द्र का अर्थ गृहस्थी, वानप्रस्थी और संन्यासी किया है। वह अर्थ भी सङ्गत है। गत मंत्र के प्रारम्भ में मैंने जो दो मार्गों का भेद दिखलाया है, उसके अनुसार यदि हमारे गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास ब्रह्मचर्य के ही महापथ पर चलने वाले हों, तब यहाँ आये प्रजापति आदि शब्दों द्वारा वैसे गृहस्थ आदि का अभिप्राय लेना कदापि विरूद्ध नहीं है, ठीक है। परन्तु फिर भी इन शब्दों का अभिप्राय उन्हीं विस्तृत अर्थों में लिया जाना उचित है जिन अर्थों में ऊपर के शब्दों द्वारा मैंने प्रकट करने का यत्न किया है। अस्तु। इस मंत्र का अभिप्राय यह है कि यदि कोई मनुष्य इन्द्र ब्रह्मचारी (या उच्चकोटि के संन्यासी) की अवस्था कर पहुँचते हैं और जगत् के असुरों का संहार कर महान् कल्याण करते हैं तो इस सबके मूल में आचार्य ही होता है। क्योंकि आचार्य ही गुरूकुलवासी ब्रह्मचारी के रूप में, फिर प्रजापति स्नातक, विराट् स्नातक तथा अन्त में इन्द्र स्नातक के रूप में आया हुआ होता है। यह सब आचार्य का ही विस्तार है, आचार्य की ही महिमा है।

अतः इस सब जगत् में हे मनुष्यों! तुम्हें यदि कुछ ब्रह्मचर्य के व त्रिविध ब्रह्मचारियों के किये हुए कोई अद्भूत चमत्कार दिखाई देते हैं तो उनका आदि स्रोत आचार्य को ही समझो और आचार्य की ही महिमा गावो, परन्तु यदि ब्रह्मचार्य के ये वेदोक्त चमत्कार नहीं दिखाई देते तो अपने समय व देश के आचार्य को ही दोषी समझो और आचार्य को ही ठीक करने का यत्न करो।

क्षत्रिय और ब्राह्मण में ब्रह्मचर्य

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मचारी ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥

—अथर्व० ११।५।१७

मन्त्रार्थ—राजा=राजा **ब्रह्मचर्येण तपसा**=ब्रह्मचर्य के तप द्वारा **राष्ट्र**=राष्ट्र की **विरक्षति**=ठीक-ठीक रक्षा करता है। और **आचार्यः**=आचार्य **ब्रह्मचर्येण**=ब्रह्मचर्य से ही **ब्रह्मचारिणम्**=ब्रह्मचारी को **इच्छते**=चाहता है।

जो राजा अजितेन्द्रिय, विलासी होता है उसके दुर्बल हाथों में राज्य की बागडोर संभली नहीं रह सकती क्योंकि जिस सरकार के अधिकारी व कर्मचारी विषयलोलुप, आचारहीन और लम्पट होते हैं उसकी प्रजा अरक्षित हो जाती है एवं पीड़ित और दुःखी होती हुई वह प्रजा उस सरकार को शाप देती रहती है। ऐसी सरकार शीघ्र ही च्युत हो जाती है अतः हे राजाओ! यदि तुम सचमुच राज्य करना चाहते हो, प्रजा का ठीक-ठीक रंजन और रक्षण करना चाहते हो, प्रजा को धन-समृद्ध, ज्ञानविकसित और उन्नत बनाना चाहते हो, तो तुम ब्रह्मचारी बनो और तपस्वी बनो। तुम अपने जीवन को सादा, संयमी और तेजस्वी बनाओ और अपने आप को जितेन्द्रिय, कष्ट सहिष्णु और ईश्वरपरायण बनाओ।

इसी तरह जो आचार्य शिष्य को शिक्षित करना चाहता है, उसे ब्रह्मचारी रख कर वेदज्ञान देना चाहता है उसे स्वयं ब्रह्मचारी होना चाहिए, बड़ा उन्नत ब्रह्मचारी होना चाहिए, नहीं तो उसे ब्रह्मचारियों की इच्छा ही नहीं करनी चाहिए। वास्तव में यह आचार्य का अपना ब्रह्मचर्यमय और शान्तिप्राप्त जीवन ही होता है जिसके

कारण वह इच्छा करता है कि और भी बहुत से लोग ब्रह्मचारी बनें, कि जितने ब्रह्मचारी बनें उतने थोड़े हैं। सचमुच आचार्य अपने ब्रह्मचर्य के बल द्वारा ही ब्रह्मचारियों को आकृष्ट करता है, उन पर शासन करता है, उन्हें अपने वश में रखता है, अपने से जोड़े रखता है और उन्हें ब्रह्मामृत पिलाता हुआ परिपुष्ट करता रहता है।

एवं कोई भी शासन—राज्यशासन या शिक्षाशासन, क्षत्रिय का शासन या ब्राह्मण का शासन—ब्रह्मचर्य के बिना नहीं चल सकता।

पर स्वामी श्रद्धानन्द जी ने ठीक कहा है कि क्षत्रिय के अब्रह्मचारी होने से उतनी अधिक हानि नहीं जितनी कि ब्राह्मण के (गुरु के) अब्रह्मचारी होने से हानि होती है। कारण स्पष्ट है कि ब्राह्मण का राज्य (धार्मिक) क्षत्रिय के राज्य (राजनैतिक) से भी विस्तृत होता है। ब्राह्मण के (शिक्षक के) खराब होने से जाति या देश का जड़ से ही नाश प्रारम्भ हो जाता है।

शिष्यों को यह उपदेश देना आसान है कि उन्हें गुरू के प्रति पूरा आत्मसमर्पण करना चाहिए, आचार्य-मृत्यु के मुख में अपने को सौंप देना चाहिए परन्तु इतना आत्मसमर्पण स्वीकार करने का अधिकारी वही आचार्य हो सकता है जो कि चौदहवें मंत्र में कहे आचार्य के पांचों गुणों को अपने अन्दर ठीक प्रकार प्राप्त कर चुका हो; अतः जिसके जीवन में इतने महान् रूप में समता विद्यमान हो कि वह जहाँ एक तरफ मृत्यु जैसा भयंकर, कठोर हो वहां दूसरी तरफ औषधि और पयः की तरह उनके कष्ट को अनुभव करने वाला, उनका सच्चा कल्याण करने वाला हो, अमृतसम प्यारा हो। आचार्य अपनी इस महान् समता को तभी प्राप्त कर सकता है जब कि वह पूरा-पूरा और उच्च कोटि का ब्रह्मचारी हो।

तात्पर्य, ब्रह्मचारी ही जगत् पर शासन कर सकता है।

ब्रह्मचर्य से सच्चा भोक्तृत्व

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मचारी ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

ब्रह्मचर्येण कन्या३ युवानं विन्दते पतिम्।
अनड्वान्ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीर्षति ॥ —अथर्व० ११।५।१८

मन्त्रार्थ—कन्या=कन्या **ब्रह्मचर्येण**=ब्रह्मचर्य से ही **युवानं पति**=जवान पति को **विन्दते**=प्राप्त करती है। **अनड्वान् अश्वः**= 'बैल, घोड़ा' **ब्रह्मचर्येण**=ब्रह्मचर्य से ही **घासं जिगीषति**=घास खाना चाहता है, भोक्तृत्व प्राप्त करता है।

सांख्य और योग की परिभाषा में कहें तो मनुष्य संसार में भोग और अपवर्ग के लिये आता है। इस मंत्र में यह कहा गया है कि मनुष्य का वह भोक्तृत्व भी ब्रह्मचर्य के बिना पूरा नहीं हो सकता, अपवर्ग ब्रह्मचर्य से होता है यह बात अगले मंत्र में कही जायगी।

दूसरे शब्दों में, पितृयाण मार्ग और देवयान मार्ग दोनों पर चलने के लिए ब्रह्मचर्य (संयम की प्रवृत्ति) की जरुरत है। इस मंत्र में कहा है पितृयान पर चलने के लिए स्त्री और पुरुष को, कन्या और युवक को, ब्रह्मचर्य का जीवन बिताना आवश्यक है तथा अगले मंत्र में कहा जायगा कि देवयान मार्ग पर चलने के लिए तो पूर्ण ब्रह्मचर्य ही एकमात्र साधन है।

यह कहने की जरूरत नहीं कि सांख्य व योग का उपर्युक्त भोग शब्द उससे अधिक विस्तृत और अधिक गम्भीर अर्थ में प्रयुक्त हुआ है जिस में हम आजकल 'भोग-विलास' शब्द (भोग के लिए या भोग में ग्रस्त होना) बोलते हैं। अतः आजकल की भाषा में बोलते हुए हम कहते हैं कि स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध भोग-विलास के लिए नहीं होता है किन्तु सन्तान की उत्पत्ति के लिए ही होता है यह वैदिक मन्तव्य है। परन्तु सांख्य योग की भाषा में हम यह भी कह सकते हैं कि सन्तान उत्पत्ति करने का, भौतिक रचना करने

का सुख प्राप्त करना भोग है, पितृयाण मार्ग पर चलना है। अस्तु, यहां यह बताया गया है कि (भोगी-विलासी होने, भोग में ग्रस्त होने की तो मनुष्य कहलाने वाले प्राणी के लिए मनुष्यत्व से बिना गिरे गुंजाइश ही नहीं है, परन्तु) यदि मनुष्य ने अभी सांख्य योग के भोगमार्ग, प्रवृत्तिमार्ग या पितृयाण के मार्ग पर चलना है तो उसके लिए भी उसे इन्द्रिय-संयम रूपी ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक है। भोक्ता बनने की शक्ति भी मनुष्य में ब्रह्मचर्य से ही आती है। जो ब्रह्मचर्य नहीं करता, वह 'भोक्ता', 'अन्नाद' नहीं बन सकता। और कोई यह ऊँचा फल तो वह क्या प्राप्त करेगा? इसीलिए हम आज देख रहे हैं कि दुनिया यद्यपि भोक्ता बनना चाहती है परन्तु ब्रह्मचर्य के अभाव के कारण भोक्ता की जगह भोग्य ही बन रही है; भोग्य पदार्थों की गुलाम, परबस बन रही है और अथाह दुःख गर्त में अधोमुख जा रही है। भोक्ता बनने के लिए भोग्य से ऊँचा रहना जरूरी है और यह ऊँचा रखनेवाली शक्ति ब्रह्मचर्य, अनासक्ति, संयम ही है। ज्यों ही हम भोग के गुलाम हो, आंख मींच, आज्ञानग्रस्त हो लिप्तता और आसक्ति के मारे अपने को भूल, भोग करने में लिप्त होते हैं त्यों ही हम अपने को भोक्ता के स्थान पर भोग्य बना हुआ पाते हैं इसीलिए असल में भोक्ता बनने के लिए हमें ऊँचा उठाने वाले, ज्ञानमुक्त होश में रखने वाले ब्रह्मचर्य की ही जरूरत है। इसी अभिप्राय से इस मंत्र में कहा है कि तेजस्विनी, विवाह की नैसर्गिक इच्छा रखनेवाली कन्या का जो युवा पति को प्राप्त करती है और सन्तानोत्पति है उद्देश्य जिसकी, ऐसे वैदिक गृहस्थ को प्राप्त करती है तो वह ब्रह्मचर्य के कारण ही प्राप्त करती है। कन्या का शब्दार्थ ही तेजस्विनी है ('कनी दीप्तौ' धातु से यह शब्द बना है) ब्रह्मचर्य के बिना कन्या तेजस्विनी, युवती, प्रसवयोग्या अर्थात् कन्या ही नहीं बन सकती, जिस तरह ब्रह्मचर्य के बिना पुरुष निर्वीर्य नपुंसक हो जायगा, युवा व पुरुष ही नहीं बन सकेगा। एवं इस मंत्र के उत्तरार्द्ध में जो 'अनड्वान्' और 'अश्व' शब्द कहे गये हैं वे यदि काम-शास्त्र की परिभाषा के अनुसार दो प्रकार के पुरुषों के भेद मान लिये जायँ (और वेद में भी 'अनड्वान्' और 'अश्व' शब्द स्त्री से विपरीत पुरुष या रयि से विपरीत प्राण अर्थ में प्रयुक्त होते हैं) तो इस मंत्र का

अर्थ यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्मचर्य के द्वारा ही कन्या (स्त्री) या युवा (पुरुष) भोक्ता बन पाते हैं और वैदिक गृहस्थ के अधिकारी होते हैं, ब्रह्मचर्य के बिना नहीं। एवं मंत्र के पूर्वार्ध में स्त्री के ब्रह्मचर्य तथा उत्तरार्द्ध में पुरुष के ब्रह्मचर्य को बताया गया है। मतलब यह कि पहले दर्जे का वसु ब्रह्मचर्य तो प्रत्येक ही स्त्री पुरुष को करना चाहिये। जो स्त्री पुरुष इतना भी नहीं करते वे तो स्त्री पुरुष (मनुष्य) ही नहीं।

परन्तु अनड्वान् और अश्व का अर्थ यदि हम बैल और घोड़ा ऐसा लेवें तो भी हम उसी परिणाम पर पहुँचते हैं। मनुष्य में जो यह भौतिक स्थूल भोक्तृत्व है यह पशु का ही भाग है, नहीं तो मनुष्य में जो उसका अपना भोक्तृत्व है वह तो मानसिक व ज्ञानमय सृजन करने का भोक्तृत्व है। अतः यहां कहा है कि बैल व अश्व आदि पशुओं में जो संतान उत्पन्न करने की शक्ति आती है। भोक्तृत्व-शक्ति आती है वह ब्रह्मचर्य के कारण ही है। अर्थात् मनुष्य क्या पशु भी ब्रह्मचर्य के बिना अपना भोक्तृत्व (अन्न ग्रहण करने, जीवनधारण करना, सन्तान उत्पन्न करना आदि) नहीं कर सकता। और सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो हम अनुभव करेंगे कि छोटे-से-छोटे प्रकार का भोक्तृत्व भी उससे एक प्रकार के संयम की अवश्य अपेक्षा रखता है।

आजकल तो हम जानते हैं कि मनुष्य की अपेक्षा पशु स्वाभाविकतया अधिक ब्रह्मचारी होते हैं। पशु को यह ब्रह्मचर्य प्रकृति सिखाती है और वैसा ही करती है। मनुष्य को परमेश्वर ने पशु में दीखने वाले इस प्राकृतिक स्वभाव से जो स्वाधीनता प्रदान की है वह तो इसीलिये दी है कि वह इस स्थूल भौतिक ब्रह्मचर्य से ऊँचे दर्जे का ब्रह्मचर्य कर सके, परन्तु वह इस स्वाधीनता को पाकर पशु से भी नीचे गिरने में इसका उपयोग कर लेता है। आजकल का मनुष्यसमाज या उसका राष्ट्रीय शासन साँड और घोड़ों की नसलें सुधारने के लिए तो कुछ अन्य प्रकार के नियमों को भी रखना आवश्यक समझता है, परन्तु मनुष्य अपने आप अपनी नसल सुधारने के लिए स्वेच्छापूर्वक कितना संयम करता है या अपने राष्ट्रीय शासन द्वारा इसके लिए कितने आवश्यक नियम बनाता है, यह हम जानते ही हैं।

ब्रह्मचर्य से अमरता और दिव्यता

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मचारी ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्व१राभरत् ॥

—अथर्व० ११।५।१९

मन्त्रार्थ—देवाः=देव **ब्रह्मचर्येण तपसा**=ब्रह्मचर्य के तपोबल से **मृत्युम्**=मौत को **अपाघ्नत**=मार डालते हैं। **इन्द्रः**=देवराज परमेश्वर, आत्मा व इन्द्र ब्रह्मचारी **ह**=निश्चय से **ब्रह्मचर्येण**=अपने के द्वारा ही **देवेभ्यः**=देवों के लिए **स्वः**=सुख व तेज को **आभरत्**=लाता है, प्राप्त करता है।

हे मनुष्यो! यदि तुम अपवर्ग को पाना चाहते हो, भोग से निवृत्त हो देवयान-मार्ग के पथिक होना चाहते हो तब तो उसका साधन एकमात्र ब्रह्मचर्य ही है, पूर्ण ब्रह्मचर्य ही है।

तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्।

—प्रश्नोपनिषद् १-१५

देवत्व प्राप्त करना अर्थात् अमरत्व प्राप्त करना तथा दिव्य तेज व मोक्ष सुख प्राप्त करना, यह देवयान-मार्ग का प्राप्तव्य स्थान है जिसकी पराकाष्ठा इन्द्रत्व प्राप्ति व मुक्ति में हैं? क्या तुम सचमुच अमरत्व और दिव्य 'स्वः' पाना चाहते हो? तुम्हारा ध्येय यह ही है? तो यह स्पष्ट है कि अन्दर बाहर के ब्रह्मचर्य को पूरी तरह अपना लो और निःशंक होकर चलते चलो।

शरीर में एकमात्र वीर्य ही वह वस्तु है जो जीवनवर्धक है, इस वीर्य को हम जितना-जितना धारण कर सकेंगे, उतना-उतना ही हम जीवनपूर्ण होंगे और मृत्यु को जीतेंगे। अतः भाइयो! यदि तुम इस मृत्युमय अवस्था से पार होने के लिए अब व्याकुल हो

चुके हो तो ब्रह्मचर्य की शरण में आ जाओ। सब देव जो अमर हुए हैं, ज्ञानी सन्त महात्मा ऋषि लोग जो मृत्यु को भी मारे हुए निश्चिन्त बैठे हैं, वे इस स्पृहनीय अवस्था को ब्रह्मचर्य के तपोबल द्वारा ही पहुँचे हैं। शारीरिक वीर्य, मानसिक तेज और आत्मिक शक्ति को सदा रक्षित रखना कभी भी भोग में गिरकर इसका क्षय न होने देना, यही वह कठिन ब्रह्मचर्य का तप है जिससे कि मौत भी मारी जाती है और सच्चा परमसुख पाया जाता है। संयमी ब्रह्मचारी जिस दिव्य सुख को अनुभव करते हैं, उसकी एक कला भी भोगियों को नहीं मिलती है। विचारे भोगी लोग सुख को जानते ही नहीं हैं। यदि उन्हें सच्चे आत्मवश सुख का पता लग जाय तो वे कभी भोगों की इच्छा न करें? हे भाइयो! तुम उस परम ब्रह्मचारी परमेश्वर की तरफ क्यों नहीं देखते? वे इन्द्र परमैश्वर्यवाले होते हुए भी त्रिकाल में भोगवासना से परे हैं और सर्वथा निष्काम हैं। इसलिए उनके पास अपनी शक्ति का ऐसा अक्षय भण्डार संचित है कि वे देवराज अपने सब अग्नि आदि देवों के लिए तथा सब मनुष्य-देवों के लिए तेज और सुख को अनवरत देते चले जा रहे हैं। यदि इस संसार के मूल में उन इन्द्र प्रभु का ब्रह्मचर्य न हो तो यह संसार एक क्षण भर न चल सके। इसी तरह शरीर में आत्मा-इन्द्र अपने ब्रह्मचर्य द्वारा ही सब इन्द्रिय-देवों में तेज और सुख को सदा ला रहे हैं। भोगों में पड़ते जाने से इन्द्रियों का तेज सदा क्षीण होता जाता है पर उनके आत्माभिमुख होने पर वे ब्रह्मचर्य द्वारा रक्षित आत्मा के अपार तेज और सुख से परिपूर्ण हो जाती हैं, भर जाती हैं। इसी तरह मनुष्यों में इन्द्र ब्रह्मचारी अपने देवों अर्थात् दिव्य मनुष्यों में पूर्ण ब्रह्मचर्य के कारण ही दिव्य तेज और सुख को फैलाने में समर्थ होता है। अतः हे मनुष्यो! यदि तुम मौत को मारना चाहते हो तो ब्रह्मचर्य की साधना करो और यदि तुम दिव्यत्व, दिव्य सुख पाना चाहते हो तो ब्रह्मचर्य की उपासना करो।

प्राकृतिक जगत् में ब्रह्मचर्य

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मचारी ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

ओषधयो भूतभव्यमहोरात्रे वनस्पतिः ।
संवत्सरः सहर्तुभिस्ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥
पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या ग्राम्याश्च ये ।
अपक्षाः पक्षिणश्च ये ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥

—अथर्व० ११।५।२०-२१

मन्त्रार्थ—ओषधयः=औषधियाँ **भूतभव्यम्**=जो हो चुका और जो होगा **अहोरात्रे**=दिन और रात **वनस्पतिः**=वनस्पतियाँ **ऋतुभिः सह संवत्सरः**=और ऋतुओं सहित वर्ष **ते**=ये सब **ब्रह्मचारिणः जाताः**=ब्रह्मचारी बने हुए हैं [या ब्रह्मचारी से जन्मे हैं]।

पार्थिवाः दिव्याः=पृथिवी पर होने वाले या आकाश में होनेवाले **ये आरण्याः**=जो जंगली हैं **ग्राम्याश्च**=और जो ग्राम में होने वाले **ये अपक्षाः पक्षिणश्च**=जो पंख वाले नहीं हैं या पंख वाले हैं **ते पशवः**=ऐसे सह पशु पक्षी **ब्रह्मचारिणः जाताः**=ब्रह्मचारी बने हुए हैं [या ब्रह्मचारी से जन्मे हैं]।

इन्द्र अपने ब्रह्मचर्य द्वारा ही सब देवों को अमृत व सुख से परे भर देता है, यह हम गत मंत्र में देख चुके हैं; इसे ही जरा संसार में होता हुआ देखिये। इस सब जगत् का इन्द्र परमेश्वर इस जगत् के सब देवों, सब प्राकृतिक शक्तियों को जीवन दे रहा है, इस प्रकार यह सब प्राकृतिक जगत् ब्रह्मचर्ययुक्त हो रहा है। 'उससे ब्रह्मचर्ययुक्त हुआ है' इस बात को यों भी कहा जा सकता है कि 'उस ब्रह्मचारी से यह हुआ है, उत्पन्न हुआ है।' परन्तु हमारे लिए पहले शब्दों में कहना अधिक उपयुक्त लगता है।

निःसन्देह यह सब भूत भव्य-जो कुछ हो चुका और जो होगा, ऐसा सब जगत्-परमेश्वर के ब्रह्मचर्य से है, उसके दिव्य नियमों का पालन करने के कारण ब्रह्मचारी है। यह दिन और रात, ब्रह्मदिन और ब्रह्मरात्रि (सृष्टि, प्रलय) ब्रह्मचर्ययुक्त हैं। यह वर्ष (संवत्सर)

और उसमें नियम से आने वाली सब ऋतुएं ब्रह्मचर्य का पालन कर रही हैं, मानो ऋतुगामी होने का पूर्ण और दिव्य उदाहरण उपस्थित कर रही हैं। ये वृक्ष वनस्पतियाँ सबसे निकृष्ट प्रकार के प्राणी, ये भी स्वाभाविक ब्रह्मचर्य द्वारा फल-फूल और बढ़ रही हैं। मतलब यह है कि सब काल और सब प्राकृतिक जगत्, जरा आन्तर-दृष्टि से देखें तो ब्रह्मचर्यमय हुवे हैं। उस परम ब्रह्मचारी की अनुरूप प्रतिमा बने हुए हैं। इसके परम ब्रह्मचर्य से निरन्तर जीवन प्राप्त करते हुए उसके अखण्ड ब्रह्मचर्य की महिमा प्रकट करने के लिए ही दृश्यमान हो रहे हैं।

पशु पक्षियों में ब्रह्मचर्य

इस प्राकृतिक जगत् से जरा आगे बढ़ें, वृक्ष वनस्पतियों की स्थावर सृष्टि से आगे देखें तो इस जंगम सृष्टि के सब पशु-पक्षी भी स्वाभाविक ब्रह्मचर्य का पालन कर रहे हैं। ये ऋतुकाल से भिन्न समय में न तो स्त्री के पास जाते हैं और न स्त्री उनको अपने पास आने देती है। सिंह, व्याघ्र आदि क्रूर पशुओं में तो यह ब्रह्मचर्य और एकपत्नीव्रत विशेष ही तीव्र है। परमात्मा ने उनमें कुछ ऐसी व्यवस्था की है कि उनको ऋतुकाल छोड़कर अन्य समय में स्त्री-पुरुष-विज्ञान भी नहीं होता। साधारणतया पशु पक्षियों में ऐसा ही देखा जाता है।

यह देखो, पृथ्वी के या आकाश के सब कीट, पतंग, पशु, पक्षी ग्राम्य या जंगली सब पशु, पंख वाले या न पंख वाले, मनुष्येतर सब प्राणी ब्रह्मचारी बने हुए हैं। जब सब प्राकृतिक जगत् ब्रह्मचर्ययुक्त हुआ है, सब (उद्भिद् योनि के प्राणी) वृक्ष, वनस्पति ब्रह्मचर्यव्रत से बँधे हुए हरे-भरे फले-फूले हो रहे हैं, सब (जरायुज अण्डज) पशु-पक्षी भी स्वभावतः ब्रह्मचर्य का पालन कर रहे हैं तो इस संसार व्यापी ब्रह्मचर्य के वायुमण्डल में हे मनुष्य! तू भी ब्रह्मचारी बन। क्या तुझे चारों तरफ ब्रह्मचर्य ही ब्रह्मचर्य नहीं दीखता? क्या तुझे यह सब कुछ ब्रह्मचर्य से पैदा हुआ नहीं नजर आता? याद रख, परम ब्रह्मचारी की इस रचना में तुझे अपना ब्रह्मचर्यमय स्थान ही पाकर टिकना है। महान् ब्रह्मचर्य के बिना तू कभी टिक नहीं सकता। इस जगत्व्यापी महान् ब्रह्मचर्य को अवलम्बन किए बिना तू कभी शान्ति कैसे पा सकेगा?

[२२]

सब प्राणियों का रक्षक ब्रह्मचर्य

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मचारी ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

पृथक्सर्वे प्राजापत्याः प्राणानात्मसु बिभ्रति । तान्त्सर्वान्ब्रह्म रक्षति ब्रह्मचारिण्याभृतम् ॥ —अथर्व० ११।५।२२

मन्त्रार्थ—सर्वे=सब **प्राजापत्याः**=प्रजापति के नियम से उत्पन्न हुए स्थूल भौतिक प्राणी **आत्मसु**=अपने में **पृथक्**=जुदा-जुदा **प्राणान्**=प्राणों को **बिभ्रति**=धारण करते हैं। **तान् सर्वान्**=उन सब प्राणियों को ब्रह्मचारिणि **आभृतम्**=ब्रह्मचारी में संग्रह किया गया **ब्रह्म**=ब्रह्म, वेद, ज्ञान ही **रक्षति**=रक्षा करता है।

गत मंत्रों में हमने देखा है कि यह सृष्टि किस प्रकार ब्रह्मचर्यमूलक है। यद्यपि यह सृष्टि विविध प्रकार की है, इस सृष्टि का प्रत्येक व्यक्ति ही भिन्न-भिन्न आकार, विचार, प्रकृति वाला है तो भी इन सबका प्राण एक ही वस्तु है; वह वस्तु है ब्रह्मचर्य; या ऐसा कहिए कि वह वस्तु है ब्रह्मचारी द्वारा प्राप्त किया हुआ, धारण किया हुआ ब्रह्म, ज्ञान, वेदज्ञान।

प्राणि-जगत् की इस विविधता में एकता करानेवाली वस्तु, अतएव सबकी एकमात्र रक्षा करनेवाली वस्तु, यह ब्रह्मचारी का ब्रह्म या ब्रह्मचर्य ही हैं। विविधता स्थूल भौतिक जगत् में है, प्राजापत्य लोक में हैं। ज्यों-ज्यों हम अन्दर के सूक्ष्म जगत् में जाते हैं त्यों-त्यों एकता है जिसकी परम सीमा परमेश्वर में है। उसी अन्तिम एकता में ब्रह्म, ज्ञान, वेद रहता है। यही ब्रह्म ब्रह्मचारी की शक्ति है, ब्रह्मचारी का खजाना है, ब्रह्मचारी का आधार है, जैसे कि एक व्यक्ति के हाथ-पैर आदि विविध अंग-प्रत्यंग और इन्द्रियाँ होते हुए भी उनके मूल में उन सबका संचालक एक वैयक्तिक प्राण है वैसे इस ब्रह्माण्ड-शरीर के असंख्य प्राजापत्य प्राणियों का संचालक व रक्षक प्राण वह एक ब्रह्म हैं। वैसे तो प्राजापत्य नियम से उत्पन्न हुआ प्रत्येक प्राणी जुदा-जुदा है; प्रत्येक जुदा अपने प्राणों को धारण करता है; जुदा अपना जीवन चला रहा है और समझ रहा है कि मैं अपने बल से जी रहा हूँ, अपने

प्राणों द्वारा रक्षित रह रहा हूँ। उसे मालूम नहीं कि वास्तव में उसे जीवन देनेवाला, उसकी रक्षा करनेवाला कोई दूसरा प्राण है, एक ही प्राण है जो कि सबके सब प्राणियों का रक्षण कर रहा है। वह इस ब्रह्माण्ड का प्राण है **'ब्रह्मचारिणि आभृतं ब्रह्म'**। जिसे वह प्राण दिखाई देता है वह देख सकता है कि संसार के सब प्राणी, सब पशु-पक्षी, सब वृक्ष-वनस्पति, सब भूत-भव्य, अहोरात्र सब कुछ ब्रह्मचर्य से जन्मे हैं, ब्रह्मचर्य-युक्त हुए हैं और ब्रह्मचारी में आभृतं ब्रह्म द्वारा ही निरन्तर रक्षित हैं।

जरा सोचिए, रक्षा करने वाली वस्तु इस संसार में क्या है सिवाय ब्रह्म (ज्ञान, नित्य, ज्ञान, वेद के) वह ज्ञान निःसन्देह ब्रह्मचारी में रहता है, ब्रह्मचर्य द्वारा ही धारण किया जा सकता है। वैसे तो यह ज्ञान प्रत्येक प्राणी में विद्यमान है, पर उसे पाने के लिए, हस्तगत करने के लिए ब्रह्मचर्य की तपस्या अपेक्षित है। इसलिए वेद ने कहा है कि ब्रह्मचारी में लाया हुआ, धारण किया हुआ, ब्रह्म ही है जो कि सबके सब प्राणियों की रक्षा कर रहा है, वे प्राणी चाहे कितने ही भिन्न-भिन्न प्रकार के क्यों न हों। हरेक प्राणी यद्यपि अपने-अपने प्रकार से, अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार, अपनी भिन्न-भिन्न दिशा में आगे चल रहा है, पर प्रत्येक को अपनी-अपनी दिशा में आगे बढ़ने के लिए ठीक, उचित, सत्यज्ञान की जरूरत है और वह ज्ञान उसके लिए इस जगत् में अपनी ब्रह्मचर्य-तपस्या से उसे आहृत करने वाले ब्रह्मचारी ही निरन्तर बहा रहे हैं, इसी लिए यह जगत् जी रहा है और रक्षा पा रहा है। इस बात को समझने के लिए हमें जरा ऊपर की तरफ देखना चाहिए, संसार में उत्पन्न होनेवाले वसु, रूद्र और आदित्य ब्रह्मचारियों की श्रृंखला को देखना चाहिए, सदा वर्तमान वसु रुद्र आदित्य देवों को देखना चाहिये तथा अन्त में सर्वदेवमय परम ब्रह्मचारी परमेश्वर को देखना चाहिए कि किस प्रकार ये अपने ब्रह्मचर्य द्वारा प्राप्त ब्रह्म को जगत् में निरन्तर दे रहे हैं, नहीं तो यह संसार कभी जीवित न रह सकता, रक्षित न रह सकता।

इसीलिए अन्यत्र भी वेद में कहा है कि ये वसु, रुद्र और आदित्य (देव या ब्रह्मचारी) हैं जो कि इस ईश्वरीय जगत् की निरन्तर रक्षा कर रहे हैं।

'देवों का सार और सर्वोच्च शक्ति'

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मचारी ॥ छन्दः—पुरोबार्हताति-
जागतगर्भा त्रिष्टुप् ॥

देवानामेतत्परिषूतमनभ्यारूढं चरति रोचमानम्।
तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम् ॥

—अथर्व० ११।५।२३

मन्त्रार्थ—**एतत्**=यह ब्रह्मचर्य **देवानां परिषूतम्**=देवों का निचोड़, सार **अनभ्यारूढ़म्**=किसी से भी न दबाया जाता हुआ **रोचमानम्**=चमकता हुआ **चरति**=चल रहा है, संसार में कार्य कर रहा है। **तस्मात्**=उससे **ब्राह्मणं ज्येष्ठब्रह्म**=ब्रह्म सम्बन्धी उत्कृष्ट ज्ञान **जातम्**=उत्पन्न होता है **देवाः च सर्वे**=और सारे देव **अमृतेन साकम्**=अमृत से [युक्त हो जाते हैं।]

संसार को चलाने वाले इन देवों की, ईश्वरीय दिव्य शक्ति की महिमा को हम अनुभव करते हैं, इनकी अद्भूत-अचूक शक्ति को और अलौकिक सामर्थ्य को अनुभव कर आश्चर्य-चकित होते हैं। पर इन देवों की भी सारभूत जो एक वस्तु है, वह ब्रह्मचर्य है। देवों का सार, देवों का निचोड़, देवों का रस ब्रह्मचर्य ही है। ब्रह्मचर्य के बिना देव कुछ नहीं हैं ब्रह्मचर्य से, ईश्वरीय नियमों ही के अनुसार चलते रहने से देवों का देवत्व है। ब्रह्मचारी होने से, परब्रह्म परमेश्वर के अनुकूल चलने वाले होने से ही ये देव इस परमदेव पर ब्रह्म से जुड़े हुए हैं और अपनी दिव्यता प्राप्त किये हुए हैं। अतएव ब्रह्मचर्य से बढ़कर इस संसार में और कोई शक्ति नहीं है। यह निःसन्देह सर्वोच्च शक्ति है। ब्रह्मचर्य को दबा सकनेवाली, नीचाकर सकनेवाली, हटा सकने वाली किसी शक्ति की कल्पना नहीं की जा सकती। यह ब्रह्मचर्य अनभ्यारूढ़ होकर

चमकता हुआ संसार में काम कर रहा है। देख सकने वालो! देखो, इस ब्रह्माण्ड में ब्रह्मचर्य रूपी दिव्य बल किस प्रकार सर्वोपरि होता हुआ किसी भी शक्ति से न दबाया जाता हुआ अपने दिव्य तेज के साथ चमकता हुआ सब कहीं चल रहा है और संसार पर प्रभुत्व कर रहा है।

इस ब्रह्मचर्य से ही ब्रह्म सम्बन्धी सर्वोच्च ब्रह्म (ज्ञान) पैदा होता है और सब देव अमृतत्व से युक्त होते हैं। यह क्यों न हो? ब्रह्म से अपने को जोड़ने वाला बल्कि ब्रह से उत्पन्न हुआ (जैसा कि पांचवे मन्त्र में कहा है) ब्रह्मचारी ही संसार को परमेश्वर—सम्बन्धी यह सर्वोत्कृष्ट ज्ञान दे सकता है जिससे मनुष्य कृतकृत्य होता है और ब्रह्मचर्य से ही—उस ब्रह्मचर्य से जो कि देवों का अमृतत्व है, निष्कर्ष (निचोड़) है—देव अपने अमृतत्व को, देवत्व को प्राप्त हुए हैं, कभी मृत्यु के वश में न होने वाली अपनी दिव्यता को प्राप्त हुए हैं। अतएव ब्रह्मचर्य देव देवों का सार और संसार की सर्वोच्च शक्ति है।

(इस मन्त्र का उत्तरार्ध पाँचवें मन्त्र में बिल्कुल इसी रूप में आ चुका है और वहाँ विस्तार से इसकी व्याख्या हो चुकी है, अतः यहाँ अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं।)

[२४]

ब्रह्मचर्य का सृजनकारी महातेज

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मचारी ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् विभर्ति तस्मिन् देवा अधि विश्वे समोताः ।
प्राणापानौ जनयन्नाद् व्यानं वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम् ॥

—अथर्व० ११।५।२४

मन्त्रार्थ—ब्रह्मचारी=ब्रह्मचारी **भ्राजद् ब्रह्म**=तेजस्वी ज्ञान को, दीप्यमान ब्रह्म को **विभर्ति**=धारण करता है। **तस्मिन् अधि**=उसमें **विश्वे देवाः**=सब देव **सं ओताः**=सम्यक् प्रकार ओत-प्रोत होते हैं। इसलिए **प्राणापानौ**=प्राण और अपान को **आत् व्यानम्**=और व्यान को **वाचम्**=वाणी को **मनः**=मन को **हृदयम्**=हृदय को **ब्रह्म**=ज्ञान को **मेधाम्**=बुद्धि को **जनयन्**=उत्पन्न करता हुआ, इनकी शक्तियों को प्रकट व विकसित करता हुआ होता है।

ब्रह्मचारी की यह सब महिमा क्यों है? चूँकि वह अपने में एक चमकते हुए देदीप्यमान महान् ज्ञान को धारण (मानो तेजस्वी महान् परमेश्वर को ही धारण) किए होता है। इस सूक्त में जो बार-बार कहा है कि ब्रह्मचारी में सब देवता समाये होते हैं, ब्रह्मचारी के पीछे सब देव चलते हैं, सब देवता ब्रह्मचारी में ओत-प्रोत हैं, ब्रह्मचर्य सब देवों का सार हैं। इत्यादि, इस सबका कारण क्या है? चूँकि यह अपने में 'भ्राजत् ब्रह्म' को समाये हुए हैं। ब्रह्मचारी की इस सब महान् महिमा का रहस्य उसके ब्रह्मतेज (या तेजोमय ब्रह्म) को जान लेने पर खुल जाता है।

ब्रह्मचारी का यह भ्राजद् ब्रह्म कोई निष्क्रिय या पंगु वस्तु नहीं है, यह तो एक सक्रिय शक्ति है, एक सृजन करने वाला महाबल है। यह सब सृष्टि, देवताओं सहित यह सब विश्व रचना, उस परम-

ब्रह्मचारी के देदीप्यमान ब्रह्म का ही तो परिणाम है। मनुष्यों में भी जो कोई ब्रह्मचारी बनता है, ब्रह्मचर्य के उस भ्राजद् ब्रह्म को अपने में संगृहीत करता है, वह भी उस सृजनकारी सामर्थ्य को प्राप्त करता है और संसार को इस दिव्य सामर्थ्य के चमत्कार दिखाने का साधन बनता है। संसार में देव जो कुछ रचना रच रहे हैं वे अपने ब्रह्मचर्य से ही रच रहे हैं। मनुष्य में जो दिव्य शक्तियाँ विकास पाती हैं, वे ब्रह्मचर्य के कारण ही पाती हैं, चूँकि अन्दर बाहर के सब देव ब्रह्मचारी में ओत-प्रोत हैं। यह बात इस सूक्त में बार-बार प्रतिपादित की गई है।

संसार की कौन-सी वस्तु है जो वस्तुतः ब्रह्मचर्य से नहीं उत्पन्न हुई? ब्रह्मचारी अपने भ्राजत् ब्रह्म के साथ चमकता है और सूर्य की तरह उसकी किरणें सब जगह जीवन, जागृति, दिव्यता, तेज, प्रकाश, ज्ञान, भक्ति, शक्ति, बुद्धि, चेतना आदि सब दिव्य वस्तुओं को प्रादुर्भूत करती जाती हैं। प्राण और अपान की शक्ति, व्यापक व्यान की शक्ति, वाणी का अद्‌भूत सामर्थ्य, मन का महान् बल, हृदय की अलौकिक विभूतियाँ ज्ञान की सिद्धियाँ और मेधाबुद्धि के वैभव ब्रह्मचर्य से ही उत्पन्न होते हैं और फिर ब्रह्मचर्य से ही विकसित (पूर्ण) होते हैं। इसलिए सब जगत् को और जगत् के प्रत्येक प्राणी को सदैव ब्रह्मचर्य की आवश्यकता है।

[२५-२६]

ब्रह्मचारी के लिए संसार की पुकार
और
उसका स्नातक होकर पृथिवी पर आगमन

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मचारी** ॥ छन्दः—**२५ आर्च्युष्णिक्**

(एकावसाना); २६ मध्येज्योतिरुष्णिग्गर्भा त्रिष्टुप् ॥

चक्षुः श्रोत्रं यशो अस्मासु धेह्यन्नं रेतो लोहितमुदरम् ॥ २५ ॥

तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपोऽतिष्ठत् तप्यमानः

समुद्रे। स स्नातो बभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्यां बहु रोचते ॥ २६ ॥

—अथर्व० ११।५।२५-२६

मन्त्रार्थ—चक्षुः श्रोत्रम्=देखने-सुनने आदि की पूर्ण शक्ति, पूर्णविकसित ज्ञानशक्ति **यशः**=यश तथा **अन्नम्**=भोग्य वस्तु **रेतः**= वीर्य **लोहितम्**=रुधिर **उदरम्**=पेट, नाभिस्थान ये सब **अस्मासु**=हम में **धेहि**=धारण कराओ [इस प्रकार की पुकार उठती है] ॥ २५ ॥

तो **तानि**=इन चक्षु श्रोत्र आदि को **कल्पत्**=बनाता हुआ, सामर्थ्ययुक्त करता हुआ ब्रह्मचारी **सलिलस्य पृष्ठे**=जल के ऊपर, व्यक्त होने वाले ज्ञान के ऊपर **तपः अतिष्ठत्**=तप करता है, तपस्यापूर्वक ठहरता है, **समुद्रे तप्यमानः**=ज्ञान समुद्र में [स्नान करने को] तप करता हुआ **सः**=वह **स्यातः**=स्नातक हुआ, ज्ञान में निष्णात हुआ, ज्ञान समुद्र में स्नान किया हुआ **बभ्रुः**=धारण पोषण करनेवाला **पिंगलः**=तेजस्वी, बलवान् **पृथिव्याम्**=इस विस्तृत भूमि पर **बहु रोचते**=बहुत शोभायमान होता है, चमकता है ॥ २६ ॥

अज्ञान, अशक्ति, दुःख, पीड़ा, अस्वास्थ्य, व्याधि से पीड़ित संसार इनसे उबरना चाहता है, इनसे मुक्त होना चाहता है, परन्तु वह जानता नहीं कि इसके लिए उसे क्या करना चाहिये। अँधेरे में भटकता हुआ, कहीं ज्ञान न प्राप्त करता हुआ वह पुकारता है

कि हमें 'चक्षु दो, हमें श्रोत्र दो।'

असल में चक्षु और श्रोत्र हमें प्राप्त नहीं हैं। इन कहलाने वाले आँख और कान को रखते हुए भी हम वस्तुतः अन्धे और बहरे हैं। इन आँख और कान से जो कुछ हमें देख सकना चाहिए, सुन सकना चाहिए उसे हम देख व सुन नहीं सकते। ये आँख और कान तो हमें प्रकाश और शब्द ग्रहण कराने की अपेक्षा धोखा ही अधिक देते हैं। इसलिए जिज्ञासु लोग व्याकुल होकर पुकारने लगते हैं कि हमें देखने की शक्ति (चक्षु) और सुनने की शक्ति (श्रोत्र) दो। हमें तो वह दिव्य-दर्शन और दिव्य-श्रवण की शक्ति दो जिससे कि सब जगह प्रकाश का क्षेत्र खुल जाता है और प्रत्येक वस्तु का अन्तर्नाद सुना जा सकता है।

इस प्रकार चक्षु और श्रोत्र की याचना करता हुआ मनुष्य सम्पूर्ण ज्ञान की व ज्ञानेन्द्रियों के (अन्दर और बाहर के) पूर्ण विकास की याचना करता है। ज्ञान होने से ही मनुष्य अपकीर्ति, अयश की विकृत अभावात्मक (Negative) अवस्था को हटा सकता है, सफल और यशस्वी हो सकता है। अतएव वह यश की भी याचना करता है कि 'हममें चक्षु, श्रोत्र आदि ज्ञान के पूर्ण साधनों को तथा यश को धारण कराओ।'

ज्ञान तो ऊपर के लोक की मांग हुई, यश अन्दर के लोक की। परन्तु जब तक नीचे का स्थूल लोक भी पवित्र, बलवान् और दिव्य न बने तब तक सब काम अधूरा है। अतः संसार पुकारता है कि हमें 'अन्न दो, रेतः दो, लोहित दो और उदर दो'। आज तो संसार अन्न के दानों को तरस रहा है, जहाँ अन्न है भी वहाँ उसको भोग करने का सामर्थ्य नष्ट हो गया है, अतएव वहाँ भी अन्न अन्न का काम नहीं दे रहा है। शुद्ध, शक्तिदायक अन्न, भोग्य पदार्थ ही नहीं मिल रहा है। लोगों में शुद्ध शुक्र (वीर्य) नहीं पैदा होता। लोग निर्वीर्य हो रहे हैं। वीर्य तो पीछे होगा, उनमें तो रुधिर ही नहीं है, शुद्ध लाल स्वस्थ रुधिर का शरीरों में सञ्चार ही नहीं है। और शुद्ध स्वस्थ लाल रुधिर कहाँ से हो, लोगों के पेट ही ठीक नहीं है। इस तरह यह संसार नीचे तक बिगड़ा हुआ है। चक्षु श्रोत्र (दिव्य दर्शन और श्रवण की शक्ति)' और यश तो पीछे होगा,

परन्तु यहाँ तो अन्न, वीर्य, रुधिर और पेट के लिए ही दुनिया परेशान है। इनकी पुकार और भी अधिक प्रबल और करुणाजनक है।

और उदर (पेट) आदि को तुच्छ चीज समझना भी बड़ी भूल है। स्थूल शरीर ही हमारे जीवन का आधार है। पेट के ठीक होने से ही सारे शरीर की स्वस्थता है और जीवन है। पेट के नीचे पेडू में, नाभि में कुण्डलिनी शक्ति है, सूर्य चक्र है, इन रहस्यों को हम समझें तो इस उदर का मतलब और अधिक महत्वशाली हो जाता है। शुद्ध रुधिर ही जीवन है, ऐसा कहने वाले, वैज्ञानिक एक बड़ा सत्य कहते हैं। रेतः (वीर्य) की अद्‌भुत शक्ति की महिमा का बखान जितना किया जाए, उतना थोड़ा है। और शुद्ध अन्न तथा अन्नाद होने की सामर्थ्य की कितनी सख्त जरूरत है, यह भी जिज्ञासुओं से छिपा नहीं है। तात्पर्य यह कि हमारा यह संसार, यह पृथिवी, जिस बात की पुकार मचा रहा है, जिसे व्याकुल होकर माँग रहा है, वह यही है—

चक्षुः श्रोत्रं यशो अस्मासु धेह्यन्नं रेतो लोहितमुदरम्।

इसी पुकार का प्रत्युत्तर देने के लिए, इसी माँग को पूरा करने के लिए ब्रह्मचारी तपस्या करता है, ब्रह्मचारी तपस्या द्वारा स्नातक बनना चाहता है। संसार की यही आवश्यकता है जो कि ब्रह्मचारी को जन्म देती है। इन्हीं प्रश्नों को हल करने के लिए ब्रह्मचारी जुदा होकर साधना करता है और तपस्या करता है। ऐसा ब्रह्मचारी कहीं जंगल में किसी नदी व समुद्र के तट पर बैठकर तपस्या करता है, यह तो बाहरी बात है। असली बात यह है कि ब्रह्मचारी यह तपस्या स्नातक होने के लिए, ज्ञान समुद्र में स्नान किया हुआ होने के लिए करता है। स्नातक का अर्थ ही यह है जो विद्या में या ज्ञान में स्नान किया हुआ (नहाया हुआ) है। निष्णात शब्द भी इसी से बना है। हम कहते हैं कि वह विद्या में निष्णात् है। प्रसिद्ध ज्ञान-सूक्त के एक मन्त्र में अधम, मध्यम और उत्तम ज्ञानवालों को घुटनों तक पानी वाले, पेट तक पानी वाले तथा डुबाऊ पानी वाले तालाबों से उपमा दी गयी है। परन्तु यह स्नातक होना, ज्ञान समुद्र में डुबकी लगा लेना, बिना तपस्या के नहीं हो सकता। साधारणतया लोग तो ज्ञान समुद्र के किनारे की रेता में ही खेलते

रहते हैं, इस समुद्र में प्रवेश करने की इन्हें इच्छा ही नहीं होती और जब इच्छा होती है तो हिम्मत नहीं होती। इसका कारण है तपस्या का अभाव। बिना तपे नहाने की इच्छा नहीं होती है, जैसे बिना ग्रीष्म के तपे वर्षा ऋतु नहीं आती। सच तो यह है कि तपस्या ही उसके लिए समुद्र को प्रकट करती है। ब्रह्मचारी जितना-जितना तप करता है, उतना-उतना उसे ज्ञानरस मिलता है, उतनी-उतनी उसे सोमरस के समुद्र से शान्ति प्राप्त होती है। तो यह तपस्या और यह ज्ञान समुद्र कहीं बाहर नहीं है। ब्रह्मचारी न केवल बाहरी शारीरिक तपस्या करता है, किन्तु उससे बहुत अधिक मन की आन्तरिक तपस्या करता है, तब उसको स्नान कराने के लिए (स्नातक बनाने के लिए) सचमुच ज्ञान समुद्र अवतरित होता है। इसके लिए वह जहाँ बैठता है वह कोई बाहरी 'सलिल का पृष्ठ' नहीं होता। सलिल (पानी) के ऊपर बैठने का क्या मतलब? आने वाले ज्ञान-जल (सत् होता हुआ जो लीन ज्ञान-जल है जिसे कि ब्रह्मचारी ने प्रकट, व्यक्त करना है) के पृष्ठ पर बैठकर ही वह तप करता है और तप द्वारा उसे अभिव्यक्त, वस्तुतः सत् करता है, स्थूल रूप में लाता है। यही ब्रह्मचारी का ध्येय है, तपश्चर्या का उद्देश्य है। संसार को एक नये ज्ञान-स्तर में पहुँचाने के लिए (देखिए छठे मन्त्र की व्याख्या) ब्रह्मचारी को आने वाले ज्ञान के (सलिल) द्रवरूप पृष्ठ पर बैठकर देर तक तपस्या करनी पड़ती है। इस तपस्या द्वारा वह ज्ञान स्तर संसार में प्रकट हो जाता है, मूर्त रूप में आ जाता है, व्यवहार्य हो जाता है, सलिल से पार्थिव रूप में आ जाता है। इस प्रकार वह ब्रह्मचारी उस नये ज्ञान को, उस नये प्राप्तव्य सत्य को, न केवल अपने दिमाग में, बुद्धि में या हृदय में ही उतारता है, किन्तु अपने शरीर में, अपने व्यावहारिक जीवन में भी ले आता है। अतएव वह इस संसार में, इस पृथिवी पर चमकता है, बहुत चमकता है, शोभायमान होता है। जिन चक्षु श्रोत्र आदि की मांग को पूरा करने के लिए वह ब्रह्मचर्य की तपस्या करता है उन्हें धारण करके, उन द्वारा जगत् का धारण करने वाला और पोषण करने वाला (बभ्रु) बन कर, वह जगत् में आता है। उन चक्षु, श्रोत्र, यश, अन्न, रेतः, लोहित और उदर को शुद्ध रूप

में पाकर और उनसे अपने को तेजस्वी और बलवान् (पिंगल) बनाकर जगतीतल पर आता है। ऐसा स्नातक सचमुच सब जगत् के लिए होता है, वह इससे संकुचित क्षेत्र वाला हो ही नहीं सकता, वह किसी नगर, प्रान्त व देश का नहीं, किन्तु सब जगत् का पुरुष होता है। सारे जगत् को वह एक उत्कृष्ट ज्ञान देता है, सारे जगत् के ज्ञान स्तर को वह ऊँचा करता है। अतएव यहाँ पर 'पृथिव्यां' कहा है। वेद का यह स्नातक तो पृथिवी भर के लिए ही होता है, इसमें कुछ शक नहीं।

तो क्या आज यह संसार चक्षु श्रोत्र की पुकार नहीं कर रहा है? क्या इस अन्धकार पूर्ण पृथिवी के लोग ज्ञान की दृष्टि से काफी अन्धे और बहरे नहीं हैं? क्या अन्धे बहरे होते हुए भी दिव्य दृष्टि व दिव्य श्रवण पाने की इच्छा (पुकार) नहीं करते हैं? क्या इन में अपकीर्ति, अपयश से ग्लानि नहीं है और हम निष्कलंक यश और सफलता के भावात्मक (Positive) तत्त्व को पाना नहीं चाहते? अन्न के लिए इस समय से अधिक तीव्र पुकार और कब होगी? निर्वीर्यता, रुधिर हीनता और व्याधि की शिकायत तो शायद आज इस भूलोक में घर-घर सुनाई देती है। तो क्या हमारी यह पुकार किसी या किन्हीं स्नातकों को नहीं तैयार कर रही? या हमारी पुकार सच्ची और ईमानदारी की नहीं है? क्या इस अवस्था में भी कहीं ब्रह्मचारी तपस्या नहीं कर रहे कि इस दुःखी जगत् को ज्ञानरस देकर शीतलता पहुँचाएँगे? क्या जिस आवश्यक नये सत्य की जगत् को जरूरत है, उसमें स्नान करके कोई स्नातक इस पृथिवी पर शोभायमान होने के लिए अब तक नहीं आने वाला है? तो हमारा क्या बनेगा? ये प्रश्न हैं जो कि इस वैदिक ब्रह्मचर्य सूक्त के इन अन्तिम मन्त्रों का स्वाध्याय करते समय उठने जरूरी हैं। तो आइये! हम इनका उत्तर पाने का यत्न करें। अपने सम्पूर्ण जीवन द्वारा उत्तर पाने का यत्न करें। इन प्रश्नों पर बहस करने, विचारने, पढ़ने-पढ़ाने से ही नहीं किन्तु सचमुच इस अमूल्य ब्रह्मचर्य-चर्चा को अपने जीवन में चरितार्थ करने द्वारा करें। इन प्रश्नों का उत्तर कहाँ से आवेगा? हे भगवन्! इनका जीता-जागता उत्तर कब प्राप्त होवेगा?

परिशिष्ट

(१)

ऊर्ध्वरेता कैसे हों?

एक मित्र जो अच्छी शिक्षा पाये हुए हैं और साधना का जीवन व्यतीत करते है, पूछते हैं—

प्रश्न—ऊर्ध्वरेता कैसे हुआ जा सकता है? क्या पूर्ण ऊर्ध्वरेता होना, सर्वथा अस्खलित-वीर्य होना सम्भव है? योग-साधना, आसान, प्राणायाम आदि क्रियाओं से इस विषय में पूर्ण लाभ हो जाता है ऐसा सुना है पर अभी तक कुछ अनुभव में नहीं आया। इस विषय में आपका क्या विचार है, इस बारे में अवश्य लिखिए।

उत्तर—ऊर्ध्वरेता होने के सम्बन्ध में मैं कोई नई बात आपको बता सकूँगा, यह मैं नहीं समझता। फिर भी क्योंकि मैं स्वयं इसके लिए यत्न कर रहा हूं और इसे सर्वथा सम्भव और शक्य समझता हूँ, अतः अपना अभिप्राय संक्षेप में लिख भेजता हूँ।

ऊर्ध्वरेता होना मामूली दुनिया से उल्टा चलना है, यह बात ऊर्ध्वरेता बनना चाहने वाले को समझ लेनी चाहिए। इसलिए उसे आम दुनिया के पीछे चलना छोड़ देना चाहिए, उसे दुनियावी लहरों में बहने वाला नहीं होना चाहिए, किन्तु आत्मनिष्ठ होना चाहिए।

ज्ञान द्वारा या भक्ति द्वारा—असल में इन दोनों द्वारा, क्योंकि आगे जाकर ये दोनों बातें एक ही हो जाती हैं—विषयों से वैराग्य होना ऊर्ध्वरेता होने के लिए आवश्यक है। यही मेरा दुनिया से उल्टे चलने से मतलब है। अर्थात् सच्चा वैराग्य ही इसका एकमात्र उपाय है। सच्चे वैराग्य के बिना ब्रह्मचर्य के लिए की गई सब अन्य बाह्य क्रियाएँ हमें दूर तक नहीं ले जाएँगी। इसलिए बुद्धि द्वारा वैराग्य का साक्षात् अनुभव और उसके द्वारा मन में विषयों की तरफ से शान्ति की स्थापना इन दो बातों के लिये यत्नशील होना चाहिए। मन की शान्ति के लिए प्राणायाम बहुत अच्छा साधन हो सकता है। अतः राजयोग की दृष्टि से प्राणायाम तथा मूर्धा में ध्यान करना वीर्य को ऊपर ले जाने में स्पष्टतया उत्तम उपाय है

एवं शीर्षासन, सिद्धासन, वज्रौली क्रिया, मूलबन्ध आदि हठयोग के साधन भी वीर्यरक्षा करने वाले हैं और इनसे बहुत कुछ लाभ प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु जैसा कि मैंने ऊपर कहा है अन्तिम और स्थिर विजय तभी प्राप्त होती है जब कि काम-विकार का बीज नाश कर दिया जाए अर्थात् चित्त के अवचेतन (Subconscious) भाग में अँधेरे में पड़ी हुई वासनाओं का (वहाँ पर भी सत्य वैराग्य के प्रकाश को पहुँचा कर) विलय कर दिया जाए। इसमें बेशक बहुत देर लगती है पर यही सच्चा और निश्चित उपाय है। तभी विषयों के या प्रलोभन के उपस्थित होते हुए भी, स्वप्न में भी, विकार के उत्पन्न होने की गुँजाइश नहीं रहती। इसीलिए एक सूत्र में कहें तो वैराग्य ज्ञान के प्रकाश को यहाँ तक बढ़ाते जाएँ कि वह हमारी अवचेतना को भी प्रकाशित कर दे। यदि शरीर की, प्राण की, मानसिक, बौद्धिक तपस्या की जाए तो इस तपस्या की अग्नि से वीर्य (रेतस्) निश्चित ऊर्ध्वगामी होगा, उसके अधोगामी होने का कोई भय न रहेगा। यह भी स्पष्ट है कि ऐसा तभी किया जा सकता है जब कि जीवन किसी बड़े ध्येय के लिए एक लक्ष्य हो।

(२)

'देवयान' मार्ग

एक मित्र पूछते हैं कि—

प्रश्न—क्या मैं भी देवयान का पथिक नहीं बन सकता? देवत्व नहीं प्राप्त कर सकता? इस मार्ग का मतलब मुझे बताइए।

उत्तर—क्या तुम देवत्व पाना चाहते हो? उस प्रसिद्ध बड़ी महिमा वाले 'देवयान' मार्ग के पथिक बनना चाहते हो? परन्तु शायद तुम उस देवों के चलने के मार्ग को अभी समझ ही न सकोगे। बात यह है कि संसार में दो मार्ग चल रहे हैं। एक मार्ग से संसार के लोग भोग में, प्रकृति में, प्रवृत्त हो रहे हैं—विश्व के एक-से-एक ऊँचे सुख-भोग पाने के लिए दृढ़तापूर्वक अग्रसर हो रहे हैं। दूसरे मार्ग वाले लोग भोगों से निवृत्त होकर अपवर्ग की तरफ, आत्मा की तरफ जा रहे हैं। ये क्रमशः पितृयाण और देवयान हैं। इन दोनों मार्गों द्वारा प्रकृति पुरुष के भोग और अपवर्ग नामक दोनों अर्थों को पूरा कर रही है। परन्तु प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों एक साथ कैसे हो सकती हैं? इसलिए जो लोग भोगों में विश्वास रखते हुए मुँह उठाये उधर जा रहे हैं, उन्हें लाख समझाने पर भी वे आत्मा की बात नहीं सुनेंगे। देवयान मार्ग तो उन्हें ही भासता है जो भोगों की निस्सारता इतनी अच्छी तरह से समझ गये हैं, परम लुभावने बड़े-बड़े दिव्य भोगों को (जिनका कि हमें अभी कुछ पता भी नहीं है) देखकर जो उनसे भी ऐसे विरक्त हो चुके हैं कि वे अब संसार के सर्वश्रेष्ठ सुख भोग के इन्द्रासनों को छोड़कर ज्ञानस्वरूप तत्त्व की शरण पाने के लिए व्याकुल हो गये हैं—भोगों में अन्धकार-ही-अन्धकार पाकर अब जो ज्ञानमय लोग में चढ़ना चाहते हैं। अतएव ऐसे मनुष्य अपने पुण्यकर्मों द्वारा चिनी हुई, उद्दीप्त और सुरक्षित की हुई अन्दर की चित्ताग्नि का आश्रय लेकर उसमें ही वास्तविक यज्ञ करने लगते हैं। अन्दर की अग्नि को भूल बाह्याग्नि में बड़े-बड़े यज्ञ तो पितृयाण वाले भी करते हैं, परन्तु ऐसे सच्चे यज्ञरूपी शोभनकर्म करने वाले उन 'सुकृत'

लोगों को ही वह देवयान नामक मार्ग इस भोग वाले संसार के अन्धकारमय आकाश में चमकता हुआ दिखाई देने लगता है। यही मार्ग 'स्वः' को, आत्म-सुख को, आत्म-ज्योति को प्राप्त करानेवाला है। यदि तुम में अभी भोगलिप्सा बाकी है तो तुम्हें अभी वह जगमगाता हुआ ज्योतिषीमान् मार्ग भी दिखाई नहीं दे सकता। जबकि संसार के लिए आकर्षक और प्रार्थनीय बड़े-बड़े स्वर्गीय भोगों और दिव्य विभूतियों के भोग भी आत्महीनता के कारण तुम्हें बिल्कुल बेकार, निःसत्त्व जँचेंगे और वह आत्मप्रकाशशून्य भोगदायक लोक अन्धकारमय दीखने लगेगा तब उसी अन्धेरे के बीच में सुवर्णरेखा की तरह और फिर विद्युत्-लता की तरह तथा अन्त में चकाचौंध करने वाली, अनन्तों सूर्यों के प्रकाश को भी मात करने वाली ज्योति की तरह वह देवयान का दिव्य प्रकाश तुम्हारे लिए उत्तरोत्तर बढ़ता जाएगा। तब भोगवादियों के लाख समझाने पर भी तुम्हें इन भोगों में राग नहीं पैदा होगा। अतः अभी ठहरो, अभी तो इतना याद रक्खों कि विषय भोग और ज्ञान बिल्कुल उल्टी चीजें हैं। भोग-कामना की रात्रि के बिना हटे ज्ञान-सूर्य का उदय नहीं हो सकता।

यह सब व्याख्या मैंने जिस वेदमन्त्र की की है, वह मन्त्र और उसका अर्थ निम्न प्रकार है—

ईजानश्चितमारुक्षदग्निं नाकस्य पृष्ठाद् दिवमुत् पतिष्यन्।
तस्मै प्र भाति नभसो ज्योतिषीमान्त्स्वर्गः पन्थाः सुकृते देवयानः॥ १४॥ —अथर्व० १८।४।१४

मन्त्रार्थ—जो मनुष्य **नाकस्य पृष्ठात्**=सुख भोग के लोक से **दिवम्**=प्रकाशमय 'द्यौ' लोक के प्रति **उत्पतिष्यन्**=ऊपर उठना चाहता हुआ और इस प्रयोजन से **ईजानः**=वास्तविक यजन करता हुआ **चितं अग्निम्**=पुण्य कर्मों द्वारा चिनी हुई अग्नि का, आन्तर अग्नि का **आ अरुक्षत्**=आश्रय ग्रहण करता है **तस्मै**=उस ही **सुकृतेः**=शोभनकर्म करने वाले के लिए **ज्योतिषीमान्**=ज्योतिर्मय **स्वर्गः**=आत्मसुख को प्राप्त कराने वाला **देवयानः पन्थाः**='देवयान' मार्ग **नभसः**=इस प्रकाशरहित संसार-आकाश के बीच में **प्रभति**=प्रकाशित हो जाता है।

ब्राह्म मुहूर्त्त के वचन

[एक बार गुरुकुल कांगड़ी के महाविद्यालय विभाग के कुछ ब्रह्मचारी २१ दिन तक श्री आचार्य अभयदेव जी के पास प्रातः साढ़े चार बजे उपस्थित होते रहे। उन्हें जो वचन आचार्य जी प्रतिदिन उपदेश के तौर पर कहते रहे वे ब्रह्मचर्य-जीवन के लिए उपयोगी होने से नीचे दिये जाते हैं]।

(१)

देखो, कितना सुन्दर समय है। इस समय को 'अमृतवेला' कहा जाता है। इस समय प्रकृति कितनी शान्तिमयी और सुहावनी है। इस शान्ति और सुहावनेपन को यदि हम अपने हृदय में पान कर लें तो हम अमृत हो सकते हैं। यह तो है ही कि इस सुन्दर 'अमृतवेला' में जो संस्कार हम अपने में डालेंगे वे हमारे अन्दर अमर हो सकते हैं, स्थायी हो सकते हैं।

(२)

यह जो सूर्य उदय हो रहा है यह एक बहुत भारी घटना है और बड़ी आश्चर्यभरी घटना है। यह प्रतिदिन हो रही है, और हमारी तरफ से बिना कुछ भी यत्न किये स्वयमेव हो रही है। इसलिये हम चाहे इसे कुछ भी महत्त्व न देते हों, पर यह कुछ साधारण बात नहीं है। इतने अन्धकार के बाद, सूर्य के उजले प्रकाश से इतनी देर तक बिलकुल बञ्चित रहने के बाद फिर भी सूर्य-प्रकाश की किरणें हमें मिल रही हैं यह कितनी कृपा है, कितने आनन्द की बात है। इस कृपामयी, आनन्दमयी और आश्चर्यमयी घटना पर गहराई के साथ सोचो और इससे सीखो, तो तुम प्रकाश-मार्ग के पथिक बन जाओगे।

(३)

जिस समय प्रकाश और अन्धेरा मिल रहे होते हैं उस धुन्धले समय में दो मिलती जुलती चीजों को पहचानना कठिन हो जाता है। एक की जगह दूसरी का भ्रम बहुधा हो जाता है। इस प्रकार

जब तक मानस में पूर्ण प्रकाश का उजाला नहीं हो गया है तब तक प्रेम और मोह में भेद करना कठिन होता है, ये दोनों इतनी विपरीत चीजें हमें एक लगती हैं, विनय और खुशामद में विवेक नहीं हो पाता, विनय खुशामद दीखती है या खुशामद विनय समझी जाती है। इसी तरह धृष्ट होना और निधड़क होना, विलासिता और कला-दृष्टि, मद और आत्माभिमान आदि के विषय में हम करुणाजनक धोखे में रहते हैं और कुछ का कुछ समझते रहते हैं। परमेश्वर से हमें प्रार्थना करनी चाहिये कि वह हमारे मानस में पूरा पूरा उजाला कर दे जिससे कि हम अपनी अन्तर-अवस्था को, अपने आप को सही सही और स्पष्ट देख सकें।

(४)

जब माँ अपने गोद के बच्चे को अपनी गोद से जुदा करती है तो बच्चा रोता है, चिल्लाता है, धुन्द मचाता है, यद्यपि तब भी वह माँ के हाथ में ही होता है, माँ के संरक्षण में ही होता है और माँ ने शायद अगले ही क्षण उसे अपनी वायीं गोद में ले लेने के लिये ही कार्यवशात् अपनी दायीं गोद से हटाया होता है या बिस्तरे पर सुला देने के लिए, थपक थपक कर आराम से सुला देने के लिए।

बच्चा इसलिये रोता है और चीखता है, क्योंकि वह जानता नहीं है और माँ उसके रोने चीखने की इसलिये परवाह नहीं करती क्योंकि वह माँ हैं, सचमुच माँ हैं।

(५)

अति कहीं नहीं करनी चाहिए। **'अति सर्वत्र वर्जयेत्'** कहा जाता है। फिर भी एक महात्मा ने बहुत सत्य और सुन्दर कहा है कि संसार में दो ऐसी चीजें हैं—'ब्रह्मचर्य और ईश्वरभक्ति'— जिनमें कभी अति नहीं हो सकती। इन्हें जितना किया जाय उतना थोड़ा है। ये इतनी अगाध या अपार हैं कि मनुष्य अपने पूरे यत्न से भी इनका पार नहीं पा सकता। मैं इतना और जोड़ता हूँ कि ये दोनों चीजें भी आगे चल कर एक ही हो जाती हैं—दो भिन्न चीजें नहीं रहती। क्या हम नहीं देखते कि ब्रह्मचर्य के बिना

ईश्वरभक्ति पूरी नहीं हो सकती और ईश्वरभक्ति के बिना ब्रह्मचर्य सिद्ध नहीं हो सकता।

(६)

एक हवा में बहनेवाले होते हैं, ये जब जैसी अच्छी या बुरी हवा चल रही होती है उसके साथ चलते हैं। दूसरे हवा के बहाव को बनानेवाले होते हैं, ये सङ्कल्प के साथ किसी आदर्श या सत्य के अनुसार चलते हैं, और निश्चय रखते हैं कि उसके अनुसार ही वे हवा के रुख़ को भी बदल लेंगे। गुरुकुल के विद्यार्थी इनमें से दूसरे प्रकार के होंगे यह आशा की जाती है।

पहिली श्रेणी में से दूसरी में जाना चाहनेवाले व्यक्तियों में जो प्रथम आवश्यक गुण होना चाहिए वह यह कि उन्हें 'न' कहना आना चाहिए। और सबके विरुद्ध होने पर भी उन्हें ग़लत बात में सहयोग देने से, उसमें बहने से इन्कार करना चाहिये। इस तरह जहाँ 'न' करना चाहिए वहाँ 'न' ही करनेवाले लोग संख्या में थोड़े होते हैं। पर उनसे भी कम संख्या में वे पुरुष होते हैं जो न केवल प्रवाह के साथ बहने से इन्कार करने का साहस रखते हैं, किन्तु नये और प्रचलित से विरोधी प्रवाह को प्रारम्भ करने का सामर्थ्य भी रखते हैं। पर भविष्य के अधिपति वे ही होते हैं।

(७)

दुःख या ताप भी परमेश्वर की एक देन ही है, उसकी अन्य देनों की तरह एक दिव्य और कल्याणमय देन ही है। यद्यपि यह प्रतिकूल अनुभव होता है, तो भी इसका स्रोत वही है जो अन्य हमारी प्रिय, अनुकूल दीखनेवाली वस्तुओं का स्रोत है। प्यारे परमेश्वर से प्राप्त होनेवाले दुःख-ताप का प्रयोजन शायद यह है कि यह हमारी कठोरता को दूर कर दे, इसका ताप हमें कुछ पिघला सा दे, नरम कर दे, ढीला कर दे, कुछ तरल सा बना दे जिससे प्रकृति आगे हमें जिस रूप में ले आना चाहती है उस रूप में हम अपने को ढाल सकें और इस प्रकार अगले और उच्चतर सुख के पात्र बन सकें।

(८)

परमेश्वर के साथ जो भी प्रेम-सम्बन्ध स्थापित किये जाते हैं उनमें से मुझे मातृ-सम्बन्ध प्रिय है। प्रतिदिन प्रातःकाल जो मेरी प्रार्थना होती है उसका अन्तिम वाक्य यह है—

"प्रातः प्रभृति सायान्तं, सायादि प्रातरन्ततः। यत्करोमि जगन्मातः, तत्सर्वं तव पूजनम्॥ हे मातः, मम षट्शताधिकैकविंशतिसहस्त्रं प्राणाः भवदर्पणमस्तु।"

"इस प्रातः से सायंकाल और फिर सायंकाल से कल प्रातःकाल तक इस अहोरात्र में, हे जगन्मातः, मैं जो कुछ करूँगा वह तेरा पूजन रूप होगा। हे माँ, इन चौबीस घण्टों में जो मेरे इक्कीस हजार छह सौ श्वास प्रश्वास होंगे, एक एक श्वास प्रश्वास तेरे अर्पण है।"

मुझसे कोई पूछे कि तुम कौन हो तो मैं उसको यह उत्तर देना पसन्द करूँगा कि "मैं माता का पुत्र हूँ।" असल में हम सभी बड़े छोटे बल्कि सभी प्राणी माता के पुत्र हैं, चाहे हम ऐसा अनुभव न करते हों। पर हमें ऐसा अनुभव करना चाहिये। इसमें कुछ सन्देह है ही नहीं कि यदि किसी की अभीप्सा, इच्छा और प्रयत्न यह हो कि वह "माता का सच्चा पुत्र बने" तो इस साधना से ही वह वहाँ पहुँच सकता है जहाँ कि किसी बड़ी से बड़ी साधना द्वारा मनुष्य पहुँचता है।

(९)

प्रेम जैसी मधुर वस्तु शायद संसार में और कोई नहीं है। पर मुश्किल यह है कि इस भूतल पर यह प्रेम-माधुर्य बहुधा विषाक्त मिलता है। यह मीठे जहर का काम करता है। शायद मनुष्य प्रेम जैसी इस दिव्य वस्तु में भी स्वार्थरूपी विष को बिना मिलाये नहीं रह सकता। इसीलिये हम चाहे दिन रात 'प्रेम, प्रेम' बोलते रहें तो भी उबरते नहीं, नष्ट ही होते जाते हैं। नहीं तो प्रेम तो वह पवित्र वस्तु है जिसमें स्वार्थ का लवलेश भी नहीं ठहर सकता, स्वार्थ की गन्ध तक नहीं आ सकती। प्रेम तो देना, देना और केवल देना, अपने लिये बिना कुछ भी बचा रखे सब कुछ दे देना जानता

है। अतएव यह सब कुछ सहन कर सकता है। परिपूर्ण समर्पण प्रेम का स्वाभाविक स्वभाव है और असीम सहन-शक्ति प्रेम का बल है।

(१०)

नौजवानी की अवस्था ख़तरनाक इसलिये होती है कि इस उम्र में कुछ कुछ दीखना शुरू होता है, पर पूरा पूरा नहीं दीखता। यदि इन्हें पूरा दीखने लगे तब भी ठीक हो, तब ये ज्ञानी होंगे अतएव अभिमान नहीं कर सकेंगे। यदि इन्हें बिल्कुल न दीखे तो भी ठीक हो, तब ये बालकों की तरह श्रद्धापूर्वक माता पिता या बड़ों का सहारा लेनेवाले होंगे। अतः इन्हें अभिमान का अवसर ही नहीं होगा। पर ये इन दोनों के बीच में होते हैं, अधूरे होते हैं, अतएव आसानी से अभिमान के शिकार हो जाते हैं। उन नवयुवकों को अपने को धन्य समझना चाहिये जो अपनी इस अवस्था को जानते हैं और पहिचानते हैं, अतएव नम्र और विनयशील होते हैं, क्योंकि उनके लिये उत्तरोत्तर अधिकाधिक ज्ञान-प्रकाश पाने का मार्ग खुला रहता है, वह अभिमान द्वारा अवरुद्ध नहीं हो जाता।

(११)

नौजवानी में जो जोश, खरोश, बल और चंचलता होती है, उमड़ी पड़ती है, वह प्रायः देर तक नहीं टिकती, जैसा कि कहा है **''गिरिनदीवेगोपमं यौवनम्''** पहाड़ी नदी के उफान की तरह कुछ देर में खतम हो जाती है।

क्या तुम नहीं चाहते कि यह शक्ति तुम में स्थिर रहे? वृद्धों की दशा को देखकर तो जरूर कभी न कभी तुम्हारे मन में आता होगा कि तुम युवक ही रहो, वृद्ध न होओ। और यह मन में आना उचित है और बड़ा अच्छा है। तो इसका एक ही उपाय है कि तुम्हारे अन्दर बहनेवाली जीवन-बल की धारा तुम में धीर, गम्भीर और शान्त रूप से निरन्तर प्रवाहित हो, अर्थात् तुम्हारे बल का आधार तुम्हारे अन्तर में रहनेवाला तुम्हारा अजर अमर और अविनाशी आत्मा हो, एक शब्द में कहें तो तुम्हारे बल का आधार ब्रह्मचर्य—विस्तृत और वैदिक अर्थों में ब्रह्मचर्य हो।

(१२)

नौजवानी में एक मादकता भी होती है जिसमें मस्त होकर नौजवान और किसी की कुछ परवाह नहीं करता, और किसी की कुछ नहीं सुनता और लगातार बुढ़ापा लानेवाले काम करता जाता है। पीछे से जब नशा उतरता है (जैसा कि नशा उतर जाने की हालत में हमेशा होता है) वह अपने को शिथिल, सुस्त, अशक्त और जीर्ण पाता है।

पर दूसरी तरफ ऐसी जवानी है जिसे जरा स्पर्श नहीं करती, जिसका वर्णन वेद में **'आत्मानं धीरं अजरं युवानं'** कह कर किया है। इस यौवन को पाने का साधन है (सुरा की जगह) सोमपान, ऊपर से आनेवाले और 'इन्द्र' होकर हृदय में पिये जानेवाले शान्त और शीतल अमृत का वस्तुतः पान। यह कोई गप्प नहीं है, न ही मनुष्य के लिये यह कोई ऐसी अशक्य वस्तु है। यह एक ऐसा यौवन है जहाँ ज़रा भी नशा नहीं, ज़रा भी बेशुधी या अचेतनता नहीं। अतएव यह प्रतिक्रियाहीन है। एक नित्य तृप्ति की अवस्था है। तो क्यों न हम अपने यौवन की सब शक्ति इस नित्य यौवन को प्राप्त करने की तरफ प्रवृत्त करें, क्योंकि हम सबके अन्दर से आत्मा की जो पुकार है वह कुछ ऐसी ही किसी वस्तु के लिये है।

(१३)

जब किसी तीव्र प्रकाश में काम करने के बाद हम एकदम किसी अन्धेरी कोठरी में घुसते हैं तो हमें वहाँ कुछ नहीं दीखता। परन्तु कुछ देर के बाद जब तीव्र प्रकाश के कारण आँखों पर हुई प्रतिक्रिया कुछ दूर होती है तब धीरे धीरे वहाँ कुछ सूझने लगता है, वहाँ की चीजें दीखने लगती हैं, अनुभव होने लगती हैं। इसी तरह बाह्य प्रकाश से चौंधियायी हुई आँखें जब पहिले-पहिल अन्तर्मुख होती हैं तो उन्हें भी अन्दर कुछ नहीं दिखाई देता। साधक कहता है 'तुम कहते हो कि अन्दर देखो, अन्तर्मुख हो, पर अन्दर तो कुछ नहीं है, अन्धेरा है, शून्य है।' किन्तु यदि वह अन्दर के इस प्राम्भिक अन्धेरे से, इस शून्य से घबराकर बार-बार बाहर ही नहीं भाग जाता, अन्दर कुछ देर टिकता है तो उसे धीरे धीरे अन्दर

की चीजों के आकार दृष्टिगोचर होने लगते हैं, वहाँ की चीजें आगे आगे स्पष्ट और स्पष्टतर होती जाती हैं। अन्दर एक से एक बड़ा प्रकाश दीखता है—ऐसे ऐसे दिव्य प्रकाश जो बाहर हमें नहीं दीख सकते—बाह्य सूर्यादि प्रकाश से हजारों लाखों गुणे प्रकाश। बल्कि सब कुछ, सब संसार ही उसे अन्दर दीखता है, यह बाह्य संसार तो ऐसा मालूम होता है कि यह अन्दर के असली संसार की केवल एक प्रतिच्छाया है।

(१४)

सामान्यतया मानवसमाज ने जो अगला सत्य पाना दीखता है उसमें दो भ्रम मुझे विशेषतया बाधक दीखते हैं।

पहला भ्रम तो यह है कि गति, हलचल, आन्दोलन, राजसिक उत्तेजनायें, कोलाहल, शोर, ये ही हैं जो शक्ति के चिह्न समझे जाते हैं, जब कि असली बात यह है कि जो शक्तियाँ जगत् को हिला रही हैं, जो वस्तुतः जगत् में परिवर्तन ला रही हैं वे निस्तब्ध नीरवता में और विशाल शान्ति की अथाह गहराई में काम कर रही हैं।

दूसरा भ्रम यह है कि ऐसा समझा जाता है कि आध्यात्मिकता तो दुर्बल लोगों की चीज है अथवा यह बुढ़ापे में माला जपने द्वारा सिद्ध की जानेवाली चीज है, जबकि असली बात यह है कि यह इतनी जबरदस्त वस्तु है कि दुर्बल लोग तो इसका स्पर्श भी नहीं कर सकते ['अधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः'] और यह तो सच्चे नौजवानों द्वारा यथासम्भव बचपन से ही शरीर, प्राण, मन और बुद्धि की उग्र तपस्याओं से तथा सतत जागरूकता से अधिगत की जाने योग्य वस्तु है।

(१५)

जब मैं गुरुकुल में द्वादश श्रेणी में पढ़ता था तो स्वामी रामतीर्थ की पुस्तकें पढ़ने का बहुत शौक था। एक बार उनकी पुस्तक पढ़ते हुए एक ऐसा वाक्य आया कि मैंने उसे पढ़ते ही पुस्तक बन्द कर दी, आँखें मिच गई और उस वाक्य को मैं बार बार दोहराने लगा। **'भूयः कथय तृप्ति र्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्'** की तरह उसे बार बार बोलते चले जाने से भी तृप्ति नहीं होती थी,

मन नहीं भरता था। तब मुझे समझ में आया कि स्वाभाविक जब क्या होता है, एक ही नाम या मन्त्र को पुनः पुनः उच्चारण करते जाने का क्या मतलब होता है।

आज इस प्रातःकाल वह वाक्य ही मैं तुम्हें सुनाता हूँ। वह है "अहा, यह कितना मधुर, कितना स्वादु, कितना अमृतमय भोजन है कि मनुष्य अपने ही हृदय को अपने आप खावें।"

(१६)

इस श्रद्धानन्द-नगरी में तो श्रद्धा का ही राज्य होना चाहिये। **'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः, यो यच्छ्रद्धः स एव सः'** यह है वचन जोकि स्वामी श्रद्धानन्द जी बहुधा उच्चारण किया करते थे। वस्तुतः श्रद्धा के बिना तो कोई भी आदमी एक कदम भी नहीं चल सकता है। जो कहते हैं कि हम श्रद्धा को नहीं मानते, उनके वैसा कहने का भी असल में इतना ही मतलब होता है कि वे इस भौतिक जगत् में और इसकी स्थूल शक्तियों में तथा अपने तर्कणा-बल में प्रबल श्रद्धा रखते होते हैं, जबकि श्रद्धावान् कहलानेवाले लोग इसकी सूक्ष्म शक्तियों में, आध्यात्मिकता में और एक सर्वज्ञानमय सत्ता में विशेष श्रद्धा रखनेवाले होते हैं। पर जिसकी जैसी श्रद्धा होती है वैसा ही वह होता है। श्रद्धामय, श्रद्धा का तो बना हुआ यह सब जगत् है ही, फिर भेद यह होता है कि जिनकी श्रद्धा गहरी होती है, जो सूक्ष्म तत्त्वों में श्रद्धा रखते हैं, वे तो दृढ़ और अविचल होते हैं, उन्हें अदृश्य शक्तियों की रक्षा प्राप्त होती है, पर जो केवल स्थूल जगत् में आस्था रखते हैं वे संशयात्मा होते हैं और विनाश को प्राप्त होते रहते हैं।

(१७)

कृतघ्नता नीचतम वृत्तियों में से है, जैसेकि विश्वासघात बुरे से बुरे अपराधों में है। जब मनुष्य किसी अपने उपकार करनेवाले के प्रति कृतघ्नता करता है—इसका अर्थ है कि वह अपने नीच स्वार्थ-सुख को भोगने के लिये उसकी तरफ़ से आँख मीच लेता है—तो इससे उस उपकारक का तो कुछ बिगड़ना ही क्या है, उसका ही उस ऊँचे तत्त्व से सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है, और उससे

मिलनेवाले प्राण और जीवन से वह अपने को वञ्चित कर लेता है। इसलिये ऊँचाई की तरफ उत्तरोत्तर बढ़ने के लिये भावनाओं की ऐसी साधना करनी आवश्यक होती है जिससे जिसने हमारा कुछ ज़रा-सा भी उपकार किया है उसके प्रति हम कृतज्ञतापूर्ण होने के, कृतज्ञता से गद्‌गद् हृदय होने के अभ्यासी होंवे। अन्त में हमारी कृतज्ञता के परम और एकमात्र पात्र तो भगवान् ही हैं जो वस्तुत: प्रतिक्षण उपकारों की वर्षा कर रहे हैं। तो यह बिल्कुल ठीक है कि उस भगवान् के प्रति तो यदि हम एक बार भी पूर्ण, सर्वाङ्गीण और अखण्ड कृतज्ञता को अनुभव कर सकें तो तभी उनका बिभूतियों सहित उनको हम प्राप्त कर लेते हैं, अपने प्राण में सचमुच उन्हें प्राप्त कर लेते हैं।

(१८)

यह संसार युद्धमय है—यह बिलकुल ठीक है। मैं भी कहता हूँ कि लड़ो, लड़ो और लड़ते चलो। पर लड़ो भगवान् के सैनिक बनकर न कि शैतान के। यह इसीलिये कहना पड़ता है क्योंकि बहुत बार शैतान भगवान् का कपट-वेश धारण करके आता है और हमारा अनुयायीपन चाहता है, और वह तो अत्यन्त दु:खमय और करुणाजनक अवस्था होती है जबकि हम असल में शैतान की फौज की पंक्ति में खड़े लड़ रहे होते हैं पर समझते हैं कि हम भगवान् के लिये लड़ रहे हैं। वैसे तो हमारे अन्दर गुहा में एक दिव्य सत्ता है जो सीधी भगवान् के हाथ में है, जो भगवान् को, भगवान् के प्रकाश को पहिचानने में कभी भूल नहीं कर सकती। पर उस गहराई तक यदि हम न पहुँच सकें तो हमें ऐसे सेनापति का कठोर-अनुशासन-पूर्ण और वीर सैनिक बनना चाहिये जिसे शैतान की कोई भी माया छल नहीं सकती। यही संसार-संग्राम में सच्चे सैनिक होने की शर्त है। ऐसे सैनिक बनकर ही लड़ो, लड़ो और अन्तिम विजय तक लड़ते चलो।

(१९)

विजय या पराजय किसे कहें? क्योंकि पराजित विजय भी होती है और गौरवपूर्ण पराजय भी होती है। और फिर इस बात

के समझनेवाले लोग मिथ्या भाव से भी प्रतिपक्षी की विजय को पराजित विजय और अपने पराजय को गौरवपूर्ण बताने लगते हैं।

असल में जय और पराजय का भी एक द्वन्द्व ही है जिससे कि हमने पार होना है, दोनों में सम रहना है, वहाँ पहुँचना है जहाँ जय और पराजय एक हो जाते हैं। पर उस अवस्था को पाने के लिये भी यह आवश्यक है कि हम सच्ची जय और सच्ची पराजय को जान जाय। इसकी एक ही वास्तविक कसौटी है। जब हृदयतल से आत्मसंतोष का आनन्द निकलता है जिसमें अन्दर का आत्मा हमें शाबाशी देता है तब विजय होती है, फिर बाकी की सब दुनिया चाहे कुछ भी समझती रहे। और जब गहराई में बेचैनी होती है, जरा ध्यान दें तो अन्दर से आत्मा हमें धिक्कारता सुनाई देता है तब वह पराजय होती है चाहे फिर सारी दुनिया हम पर फूल ही क्यों न बरसा रही हो।

(२०)

नमः या प्रणाम का अर्थ अपने स्थूल शरीर को यान्त्रिक तौर से झुका देना नहीं है इससे कुछ नहीं बनता। इसका अर्थ है सम्पूर्ण रूप से अपने आप को—अपने शरीर को ही नहीं किन्तु अपने प्राण की इच्छाओं और अपने मनके विचारों को भी—अपने पूजनीय के सामने झुका देना, उसे सौंप देना, समर्पण कर देना। सन्ध्या के अन्त में जिस **''नमः शम्भवाय च''** मन्त्र द्वारा नमस्कार किया जाता है वह समर्पण-मन्त्र कहाता है।

जो वन्दनीय है उसके आगे झुकने से हमारा गौरव घटता नहीं है, बढ़ता है। उसे अपने आपको सौंप देने से, समर्पण कर देने से हमारी स्वतन्त्र सत्ता मिटती नहीं बल्कि वह उसकी महिमा द्वारा अधिक शक्तिशालिनी और महत्वशालिनी हो जाती है। बल्कि जो जितना गौरवशाली होता हुआ, जितना बड़े व्यक्तित्ववाला और सच्चा आत्म-सम्मानी होता हुआ देव के आगे झुकता है वह देव की ज्ञान-शक्ति और महत्ता की धारा को उतनी ही अधिक मात्रा में ग्रहण करने का पात्र होने के कारण अपने इस नमस्कार द्वारा उतना ही अधिक ज्ञानपूर्ण, शक्तिभण्डार और तेजोराशि होकर ऊपर

उठता है, दुनिया में चमकता है। इसलिए नमस्कार करो, पूर्णरूप से नमस्कार करो।

(२१)

तुम यहाँ से जाकर फिर सो तो नहीं जाते? जब एक बार जाग गये फिर क्या सोना है? गिरिधरदास का एक भजन मुझे बहुत प्रिय है।

"जब जाग गया फिर सोना क्या रे।
जो नर-तन देवन को दुर्लभ,
सो पाया अब रोना क्या रे।
जाग गया फिर सोना क्या रे।"

यदि तुमने कुछ चीज़ प्राप्त की है तो केवल गफलत और प्रमाद में पड़कर उसे क्यों गवाँ दिया जाय?

"हीरा हाथ अमोलक आया
कांच भाव से खोना क्या रे।
जाग गया फिर सोना क्या रे।"
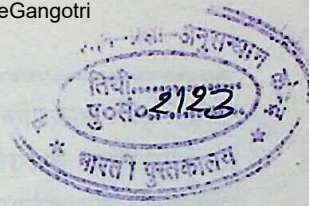
ब्रह्मचर्यसूक्तम्

अथर्ववेद, काण्ड ११, सूक्त ५

ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे तस्मिन्देवाः संमनसो भवन्ति।
स दाधार पृथिवीं दिवं च स आचार्यं तपसा पिपर्ति॥ १॥
ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः पृथग्देवा अनुसंयन्ति सर्वे। गन्धर्वा
एनमन्वायन्त्रयस्त्रिंशत्त्रिशताः षट्सहस्राः सर्वान्त्स देवांस्तपसा पिपर्ति॥ २॥
आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥ ३॥
इयं समित्पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति।
ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति॥ ४॥
पूर्वो जातो ब्रह्मणो ब्रह्मचारी घर्मं वसानस्तपसोदतिष्ठत्।
तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम्॥ ५॥
ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः।
स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्त्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत्॥ ६॥
ब्रह्मचारी जनयन्ब्रह्मापो लोकं प्रजापतिं परमेष्ठिनं विराजम्।
गर्भो भूत्वामृतस्य योनाविन्द्रो ह भूत्वासुरांस्ततर्ह॥ ७॥
आचार्यस्ततक्ष नभसी उभे इमे उर्वी गम्भीरे पृथिवीं दिवं च।
ते रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तस्मिन्देवाः संमनसो भवन्ति॥ ८॥
इमां भूमिं पृथिवीं ब्रह्मचारी भिक्षामा जभार प्रथमो दिवं च।
ते कृत्वा समिधावुपास्ते तयोरार्पिता भुवनानि विश्वा॥ ९॥
अर्वागन्यः परो अन्यो दिवस्पृष्ठाद्गुहा निधी निहितौ ब्राह्मणस्य।
तौ रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तत्केवलं कृणुते ब्रह्म विद्वान्॥ १०॥
अर्वागन्य इतो अन्यः पृथिव्या अग्नी समेतो नभसी अन्तरेमे।
तयोः श्रयन्ते रश्मयोऽधि दृढास्ताना तिष्ठति तपसा ब्रह्मचारी॥ ११॥
अभिक्रन्दन् स्तनयन्नरुणः शितिङ्गो बृहच्छेपोऽनु भूमौ जभार।
ब्रह्मचारी सिञ्चति सानौ रेतः पृथिव्यां तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः॥ १२॥

अग्नौ सूर्ये चन्द्रमसि मातरिश्वन्ब्रह्मचार्यप्सु समिधमा दधाति ।
तासामर्चींषि पृथगभ्रे चरन्ति तासामाज्यं पुरुषो वर्षमापः ॥ १३ ॥
आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः ।
जीमूता आसन्त्सत्वानस्तैरिदं स्वराभृतम् ॥ १४ ॥
अमा घृतं कृणुते केवलमाचार्यो भूत्वा वरुणो यद्यदैच्छत्प्रजापतौ ।
तद्ब्रह्मचारी प्रायच्छत्स्वान्मित्रो अध्यात्मनः ॥ १५ ॥

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः ।
प्रजापतिर्वि राजति विराडिन्द्रोऽभवद्वशी ॥ १६ ॥
ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति ।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥ १७ ॥
ब्रह्मचर्येण कन्या३ युवानं विन्दते पतिम् ।
अनड्वान्ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीर्षति ॥ १८ ॥
ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत ।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत् ॥ १९ ॥
ओषधयो भूतभव्यमहोरात्रे वनस्पतिः ।
संवत्सरः सहर्तुभिस्ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥ २० ॥
पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या ग्राम्याश्च ये ।
अपक्षाः पक्षिणश्च ये ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥ २१ ॥
पृथक्सर्वे प्राजापत्याः प्राणानात्मसु बिभ्रति ।
तान्त्सर्वान्ब्रह्म रक्षति ब्रह्मचारिण्याभृतम् ॥ २२ ॥

देवानामेतत्परिषूतमनभ्यारूढं चरति रोचमानम् ।
तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम् ॥ २३ ॥
ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद्बिभर्ति तस्मिन्देवा अधि विश्वे समोताः ।
प्राणापानौ जनयन्नाद् व्यानं वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम् ॥ २४ ॥
चक्षुः श्रोत्रं यशो अस्मासु धेह्यन्नं रेतो लोहितमुदरम् ॥ २५ ॥
तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपोऽतिष्ठत्तप्यमानः समुद्रे ।
स स्नातो बभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्यां बहु रोचते ॥ २६ ॥

॥ इति ओ३म् शम् ॥